
Registration No. V-36244/2008-09

ISSN :- 2350-0611

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48441 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 5.23

Research Highlights

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor

Dr. Kamlesh Kumar Singh

Assistant Professor

Department of Sociology

Pt. D.D.U. Govt. Girls P.G. College

Sevapuri, Varanasi

Volume - XII

No. - 3

(July – Sept. 2025)

(Part – IV)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Research Highlights - A Referred Journal, Published by : Quarterly

Correspondence Address :

C 4/270, Chetganj

Varanasi, (U.P.)

Pin. - 221 010

Mobile No. :- 09336924396

Email- researchhighlights1@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Research Highlights" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2350-0611

Printed by

Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh**, United Nations Professor of Plant Physiology, Department of Plant Sciences, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar**, School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Pramod Rao**, Assistant Professor, Department of Hindi, VBS Purvanchal University, Jaunpur
- **Dr. Anil Pratap Giri**, Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh**, Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan**, Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Shailendra Singh**, Professor and Head, Department of Sociology, J.S. University, Sikohabad, U.P.
- **Dr. Manish Arora**, Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya**, Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray**, Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi**, Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh**, Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Satyapal Yadav**, Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Brajesh Kumar Prasad**, Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Dewendra Pratap Tiwari**, Assistant Professor, Department of Political Science, Shree Lakshmi Kishori Mahavidyalaya (A Constituent Unit of BRA Bihar University, Muzaffarpur), Bihar

- **Dr. Hena Hussain**, Assistant Professor, Department of Psychology, Oriental College, Patna City (A Constituent Unit of Patliputra University, Patna), Bihar
- **Dr. Santosh Kumar Singh**, Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh**, Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari**, Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Vaibhav Kaithvas**, Assistant Professor, Department of Performing Art, Eklavya University, Sagar Road, Damoh, MP
- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan**, Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey**, Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi



EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Research Highlights**, a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor



CONTENTS

"Research Highlights"

➤	भारत में तिब्बती सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखना : भारतीय संस्कृति के साथ समायोजन में चुनौतियाँ <i>स्नेहलता</i> <i>डॉ. सीमा राणा</i>	01-04
➤	वैदिक ऋषि परम्परा का स्वरूप : ऋषि वशिष्ठ की परम्परा का दार्शनिक पक्ष <i>शिखर श्रीवास्तव</i> <i>प्रो. प्रवेश भारद्वाज</i>	05-10
➤	स्त्री शिक्षा : बौद्ध काल के परिप्रेक्ष्य में <i>डॉ. दिलीप कुमार सिंह</i> <i>डॉ. राजेश कुमार सिंह</i>	11-13
➤	प्राचीन भारतीय नगरों का विकास <i>डॉ. रजनीकान्त राय</i>	14-17
➤	श्रीमद्भागवतपुराण में वर्णित भक्ति <i>डॉ. अनुराग मिश्र</i>	18-20
➤	महात्मा विदूर के राजनीतिक विचारों की वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता <i>रामचरण प्रजापति</i> <i>डॉ. भावना यादव</i>	21-25
➤	अनुसूचित जाति के अधिकारों की वर्तमान स्थिति और भविष्य की दिशा : एक अध्ययन <i>अमृत कुमार रजक</i>	26-29
➤	दलित अधिकारों के लिए संघर्ष और सुधार आंदोलन : पुर्णियाँ जिला के विशेष संदर्भ में एक अध्ययन <i>संतोषी कुमारी</i>	30-32
➤	राष्ट्रीय आन्दोलन में दलित चेतना : एक ऐतिहासिक विश्लेषण <i>डॉ. अक्षय कुमार</i>	33-36
➤	महादेवी वर्मा के काव्य में स्त्री-यथार्थ, संवेदना और स्वप्न-लोक <i>चंद्रप्रकाश गोस्वामी</i>	37-41
➤	कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक एवं सामाजिक समायोजन का समाजशास्त्रीय अध्ययन <i>सम्प्रदा व्यास</i> <i>डॉ. अशोक कुमार श्रीवास्तव</i>	42-46

➤	ग्रामीण सशक्तिकरण में डिजिटल मीडिया की भूमिका : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन <i>शालिनी यादव</i> <i>डॉ. अशोक कुमार श्रीवास्तव</i>	47-50
➤	विनय-पिटक का परिचय <i>तारा शर्मा</i> <i>प्रो. बीरेंद्र कुमार</i>	51-54
➤	पूर्व मध्यकाल में शिक्षण की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन <i>डॉ. संदीप कुमार तिवारी</i>	55-58
➤	रोहतास जिले में कृषि अवसंरचना का विकास : कृषि उत्पादकता, विपणन दक्षता एवं ग्रामीण आजीविका पर प्रभाव <i>राजेन्द्र प्रसाद</i> <i>डॉ. शशि भूषण राय</i>	59-62



भारत में तिब्बती सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखना : भारतीय संस्कृति के साथ समायोजन में चुनौतियाँ

स्नेहलता*
डॉ. सीमा राणा**

सारांश (Abstract)

यह शोध-पत्र भारत में निर्वासित तिब्बती समुदाय की सांस्कृतिक पहचान के संरक्षण तथा भारतीय संस्कृति के साथ उनके समायोजन की जटिल प्रक्रिया का विस्तृत अकादमिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। 1959 के पश्चात भारत आए तिब्बती शरणार्थियों ने यहाँ सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा के साथ-साथ अपनी धार्मिक, भाषाई और सांस्कृतिक परंपराओं को बनाए रखने का निरंतर प्रयास किया है। वैश्वीकरण¹, शहरीकरण², पीढ़ीगत परिवर्तन³, आर्थिक दबाव और राजनीतिक अनिश्चितता के कारण तिब्बती सांस्कृतिक पहचान अनेक चुनौतियों का सामना कर रही है। इस अध्ययन में सांस्कृतिक संरक्षण बनाम सामाजिक एकीकरण के द्वंद्व, भाषाई संकट, महिलाओं की भूमिका, शिक्षा का प्रभाव और नई पीढ़ी के दृष्टिकोण का गहन विश्लेषण किया गया है। शोध-पत्र का निष्कर्ष यह स्पष्ट करता है कि भारतीय बहुलतावादी समाज में रहते हुए तिब्बती समुदाय अपनी विशिष्ट पहचान को बनाए रख सकता है, बशर्ते सांस्कृतिक संरक्षण और समायोजन के बीच संतुलित नीति अपनाई जाए।

1. भूमिका

1959 में तिब्बत से दलाई लामा के भारत आगमन के पश्चात भारत तिब्बती शरणार्थियों का प्रमुख आश्रय स्थल बना।⁴ भारत की उदार और मानवीय शरणार्थी नीति के अंतर्गत हिमाचल प्रदेश, उत्तराखंड, कर्नाटक, अरुणाचल प्रदेश, सिक्किम तथा अन्य क्षेत्रों में तिब्बती बस्तियों की स्थापना हुई। समय के साथ तिब्बती समुदाय ने शिक्षा, धार्मिक संस्थानों, हस्तशिल्प, कृषि, व्यापार तथा पर्यटन से जुड़ी गतिविधियों के माध्यम से अपनी सामाजिक-आर्थिक उपस्थिति को सुदृढ़ किया। इसके साथ-साथ सांस्कृतिक पहचान के संरक्षण का प्रश्न भी अत्यंत महत्वपूर्ण बना रहा।

प्रवासन की स्थिति में किसी भी समुदाय के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह होती है कि वह अपनी मूल सांस्कृतिक पहचान को किस प्रकार सुरक्षित रखे और साथ ही मेज़बान समाज के साथ सामंजस्य भी स्थापित करे। तिब्बती समुदाय के लिए यह चुनौती और भी जटिल है क्योंकि उनकी पहचान केवल भौगोलिक नहीं बल्कि ऐतिहासिक, धार्मिक और राजनीतिक संघर्ष से भी जुड़ी हुई है। इस शोध-पत्र का उद्देश्य भारत में तिब्बती सांस्कृतिक पहचान के संरक्षण तथा भारतीय संस्कृति के साथ समायोजन की प्रक्रिया में उत्पन्न चुनौतियों का समग्र विश्लेषण करना है।

भारत में तिब्बती बस्तियों का भौगोलिक विस्तार विभिन्न राज्यों में अलग-अलग परिस्थितियों और सामाजिक समर्थन के आधार पर हुआ। उदाहरण के लिए, धर्मशाल, दिल्ली और सिक्किम में शरणार्थियों के लिए विभिन्न प्रशिक्षण केंद्र और शैक्षणिक संस्थान स्थापित किए गए, जिससे तिब्बती संस्कृति के संरक्षण में सहूलियत मिली। इन केंद्रों ने शिक्षा, भाषा और सांस्कृतिक अनुष्ठानों के माध्यम से समुदाय के भीतर

* अनुसंधानकर्ता, पाश्चात्य इतिहास विभाग, शिया पी.जी. कॉलेज, लखनऊ

** मार्गदर्शक (सहायक प्रोफेसर), शिया पी.जी. कॉलेज, लखनऊ

2 भारत में तिब्बती सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखना : भारतीय संस्कृति के साथ समायोजन में चुनौतियाँ

सामाजिक सामंजस्य बनाए रखने में योगदान दिया। इसके अतिरिक्त, स्थानीय भारतीय समुदायों के साथ संपर्क और सामाजिक सहयोग ने तिब्बती समाज को भारतीय समाज के अनुकूल ढालने में मदद की।

2. तिब्बती सांस्कृतिक पहचान की अवधारणा एवं विशेषताएँ

तिब्बती सांस्कृतिक पहचान का आधार बौद्ध धर्म, तिब्बती भाषा, मठ व्यवस्था, पारंपरिक जीवन शैली तथा सामूहिक सामाजिक चेतना है।⁵ तिब्बती समाज में धर्म केवल आध्यात्मिक आस्था नहीं बल्कि सामाजिक संगठन और नैतिक अनुशासन का माध्यम रहा है। मठों ने शिक्षा, संस्कृति और सामाजिक नियंत्रण के केंद्र के रूप में कार्य किया है।

भारत में निर्वासन के पश्चात तिब्बती समुदाय ने अपनी पहचान को संरक्षित रखने के लिए केंद्रीय तिब्बती प्रशासन, तिब्बती विद्यालयों, मठों और सांस्कृतिक संस्थानों की स्थापना की। तिब्बती भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाए रखना, पारंपरिक वेशभूषा, भोजन, संगीत, नृत्य और त्योहारों का संरक्षण इस सांस्कृतिक निरंतरता का प्रतीक है। इसके बावजूद, समय और परिस्थितियों के प्रभाव से सांस्कृतिक स्वरूप में परिवर्तन आना स्वाभाविक है।

सांस्कृतिक संरक्षण में विविध पहलुओं का समावेश होता है जैसे: - पारंपरिक नृत्य और संगीत का संवर्धन - तिब्बती हस्तशिल्प, वस्त्र और भोजन की शैली का संरक्षण - धार्मिक अनुष्ठानों, त्योहारों और विशेष अवसरों की अनवरत परंपरा - पीढ़ीगत सांस्कृतिक शिक्षा और भाषा प्रशिक्षण - तिब्बती धार्मिक ग्रंथों और साहित्य का अध्ययन - सामुदायिक संगठन और सामाजिक परंपरा इन सभी गतिविधियों के माध्यम से तिब्बती समाज ने अपने सांस्कृतिक तत्वों को जीवंत बनाए रखा है, जो भारतीय बहुलतावादी समाज में एक विशिष्ट पहचान सुनिश्चित करता है।

3. भारतीय संस्कृति के साथ तिब्बती समुदाय का समायोजन

भारतीय संस्कृति की बहुलतावादी प्रकृति ने तिब्बती समुदाय को अपनी पहचान बनाए रखने की पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की है।⁶ शिक्षा, रोजगार और सामाजिक संपर्कों के माध्यम से तिब्बती समाज भारतीय समाज के साथ जुड़ा। हिंदी और अंग्रेजी भाषा के ज्ञान ने तिब्बती युवाओं को मुख्यधारा से जोड़ने में सहायता की।

भारतीय त्योहारों, खान-पान और सामाजिक मूल्यों का प्रभाव तिब्बती जीवन शैली में दिखाई देता है। यह समायोजन पूर्ण आत्मसात न होकर चयनात्मक एकीकरण का रूप लेता है, जिसमें तिब्बती समुदाय अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता को बनाए रखते हुए भारतीय समाज में स्थान बनाता है।

समायोजन की प्रक्रिया में तिब्बती समुदाय ने भारतीय शिक्षा प्रणाली, व्यवसायिक अवसरों और सामाजिक नेटवर्क का लाभ उठाते हुए आधुनिक जीवन शैली को अपनाया है। इसके साथ ही, पारंपरिक मूल्य, धार्मिक अभ्यास और सांस्कृतिक समारोहों का निरंतर पालन यह सुनिश्चित करता है कि पहचान और परंपरा में संतुलन बना रहे।

सांस्कृतिक समायोजन के अतिरिक्त, तिब्बती समुदाय ने स्थानीय भारतीय समाज के साथ सहयोग और पारस्परिक आदान-प्रदान के माध्यम से सामाजिक समरसता बनाए रखी है। व्यापार, पर्यटन और शैक्षणिक संस्थानों में उनकी सक्रिय भागीदारी ने भारतीय समाज में उनके योगदान को स्पष्ट किया है। यह समायोजन केवल सामाजिक नहीं बल्कि आर्थिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में भी दिखाई देता है।

4. सांस्कृतिक संरक्षण की प्रक्रिया में चुनौतियाँ

भारत में तिब्बती सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने में अनेक चुनौतियाँ विद्यमान हैं।⁷ सबसे प्रमुख चुनौती भाषाई है, क्योंकि नई पीढ़ी में तिब्बती भाषा का प्रयोग सीमित होता जा रहा है। आर्थिक दबावों के कारण पारंपरिक व्यवसायों से दूरी और आधुनिक जीवन शैली की ओर झुकाव बढ़ रहा है।

इसके अतिरिक्त वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद और मीडिया के प्रभाव से सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन हो रहा है। दीर्घकालिक निर्वासन और राजनीतिक अनिश्चितता भी सांस्कृतिक आत्मविश्वास को प्रभावित करती है। शिक्षा, तकनीकी विकास और सामाजिक बदलावों ने तिब्बती जीवन शैली में परिवर्तन को तेज किया है, जिससे सांस्कृतिक संरक्षण के लिए नई रणनीतियों की आवश्यकता उत्पन्न हुई है।

सांस्कृतिक संरक्षण में नीतिगत और सामाजिक पहलुओं को शामिल करना आवश्यक है। स्थानीय भारतीय सरकार, केंद्रीय तिब्बती प्रशासन और विभिन्न NGOs के सहयोग से तिब्बती भाषा, धर्म, कला और साहित्य को संरक्षित करने के लिए कार्यक्रमों का आयोजन किया जा सकता है। यह केवल परंपराओं को बचाने के लिए नहीं बल्कि नई पीढ़ी में सांस्कृतिक जागरूकता पैदा करने के लिए भी महत्वपूर्ण है।

5. पीढ़ीगत परिवर्तन, लैंगिक दृष्टिकोण और सांस्कृतिक भूमिका

पीढ़ीगत अंतर तिब्बती सांस्कृतिक पहचान को नए संदर्भ प्रदान करता है। पहली पीढ़ी निर्वासन को अस्थायी मानते हुए सांस्कृतिक संरक्षण पर केंद्रित रही, जबकि नई पीढ़ी भारत को स्थायी निवास मानकर अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाती है।

तिब्बती महिलाओं की भूमिका सांस्कृतिक संरक्षण में विशेष रूप से महत्वपूर्ण रही है।⁸ वे भाषा, परंपरा और धार्मिक मूल्यों की संवाहक रही हैं। शिक्षा और रोजगार के अवसरों ने महिलाओं की सामाजिक स्थिति को सशक्त किया है, किंतु इससे पारंपरिक और आधुनिक मूल्यों के बीच संतुलन की चुनौती भी उत्पन्न हुई है।

युवाओं और महिलाओं की भागीदारी ने सांस्कृतिक उत्सवों, धार्मिक अनुष्ठानों, भाषा प्रशिक्षण और सामाजिक कार्यक्रमों में नवजीवन प्रदान किया है। यह केवल संरक्षण का कार्य नहीं बल्कि समुदाय के भीतर नेतृत्व, सामाजिक जिम्मेदारी और सहयोग की भावना विकसित करने में भी सहायक है।

शहरीकरण और वैश्वीकरण के प्रभाव ने तिब्बती युवाओं के व्यवहार, पोशाक, खान-पान और मनोरंजन की प्राथमिकताओं में परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन को स्वीकार करते हुए परंपरागत मूल्यों के साथ संतुलन बनाए रखना अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए विशेष सांस्कृतिक शिक्षा, कार्यशालाएँ, साहित्यिक कार्यक्रम और सामुदायिक आयोजन नई पीढ़ी में सांस्कृतिक चेतना बनाए रखने में मदद कर सकते हैं।

6. निष्कर्ष (Conclusion)

भारत में तिब्बती सांस्कृतिक पहचान का संरक्षण एक सतत और गतिशील प्रक्रिया है। भारतीय संस्कृति के साथ समायोजन ने तिब्बती समुदाय को सुरक्षा और अवसर प्रदान किए हैं, परंतु इसके साथ सांस्कृतिक क्षरण का खतरा भी जुड़ा है। भाषा, शिक्षा और सांस्कृतिक संस्थानों को सुदृढ़ करना अत्यंत आवश्यक है।

नई पीढ़ी में सांस्कृतिक जागरूकता, महिलाओं की सक्रिय भूमिका, और स्थानीय भारतीय समाज के सहयोग से तिब्बती समुदाय अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाए रख सकता है। वैश्वीकरण और तकनीकी बदलावों के प्रभाव के बावजूद, संतुलित नीतियों और सामुदायिक सहभागिता के माध्यम से तिब्बती संस्कृति और परंपराओं का संरक्षण सुनिश्चित किया जा सकता है। यह निष्कर्ष यह दर्शाता है कि सांस्कृतिक संरक्षण और समायोजन के बीच संतुलन बनाए रखना तिब्बती समुदाय की दीर्घकालीन स्थिरता और पहचान के लिए महत्वपूर्ण है।

फुटनोट सूची

1. वैश्वीकरण: Globalization का तिब्बती संस्कृति पर प्रभाव।
2. शहरीकरण: Urbanization के कारण सांस्कृतिक परिवर्तन।
3. पीढ़ीगत परिवर्तन: New generation की दृष्टिकोण और व्यवहार।
4. दलाई लामा, *My Land and My People*, McGraw Hill, New York.
5. Melvyn C. Goldstein, *The Snow Lion and the Dragon*, University of California Press.

4 भारत में तिब्बती सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखना : भारतीय संस्कृति के साथ समायोजन में चुनौतियाँ

6. Tsering Shakya, *The Dragon in the Land of Snows*, Penguin Books.
7. Amartya Sen, *Identity and Violence*, Penguin.
8. UNHCR, *Report on Tibetan Refugees in India*.

संदर्भ सूची (References)

- दलाई लामा. *निर्वासन में तिब्बती संस्कृति और पहचान*.
- गोल्डस्टीन, मेल्विन सी. *तिब्बती समाज और संस्कृति*.
- शाक्य, त्सेरिंग. *तिब्बत का आधुनिक इतिहास*.
- सेन, अमर्त्य. *पहचान और सांस्कृतिक संघर्ष*.
- भारत सरकार. *तिब्बती शरणार्थी नीति से संबंधित दस्तावेज़*.
- UNHCR. *Tibetan Refugees in South Asia*.
- Central Tibetan Administration. *Annual Cultural Reports*.



वैदिक ऋषि परम्परा का स्वरूप : ऋषि वशिष्ठ की परम्परा का दार्शनिक पक्ष

शिखर श्रीवास्तव*
प्रो. प्रवेश भारद्वाज**

सारांश :-

वैदिक ऋषियों को लेकर यह धारणा है की यह ऋषिगण मूलतः कुल परम्परा से जुड़े धर्मशास्त्रीयों का समूह था. इसलिए इन्हें प्रायः परिवार के रूप में देखा जाता है. इसे इस रूप में निरूपित किया जाता है की ये परिवार किसी विशेष गुरु से सम्बद्ध गुरु शिष्य परंपरा का नेतृत्व करते हैं अर्थात् जब हम वशिष्ठ कुल को इस रूप में व्याख्यायित करेंगे तो इसका अर्थ गुरु वशिष्ठ और उनकी शिष्य परम्परा से लिया जाएगा. किन्तु वैदिक सभ्यता के किसी भी पक्ष को लेकर हम दावा नहीं कर सकते कि इसे पूर्ण रूप से समझ लिया गया है. साक्ष्य के आधार पर अधिकतम एक अनुमानित निष्कर्ष निकाला जा सकता है. ऋषि परंपरा को लेकर भी यह अवधारणा नहीं बनाई जा सकती कि यह केवल किसी विशेष व्यक्ति और उसके शिष्यों के समूह और उनकी कुल परंपरा का नाम मात्र है. वेद में कोई नाम मात्र संज्ञा नहीं है, उसका एक आध्यात्मिक दार्शनिक पक्ष है. यह बात ऋषि परंपरा के संदर्भ में भी लागू होती है. किसी विशेष ऋषि/मन्त्रदृष्टा का नाम किसी विशेष दार्शनिक विचार को प्रदर्शित करता है, जो उस मंत्र में भी निरूपित होता है. ऋग्वेद में अनेक मन्त्र दृष्टा का नाम आता है, किन्तु प्रस्तुत शोध पत्र में केवल वशिष्ठ परम्परा का विश्लेषण किया गया है और उसके आध्यात्मिक दार्शनिक पक्ष का निरूपण किया गया है.

विषय प्रवेश :-

वैदिक देवों के संदर्भ में मैक्समूलर ने कहा था कि देवता केवल प्रकृति कि विभिन्न शक्तियों के नाम नहीं हैं, बल्कि इनका गंभीर आध्यात्मिक अर्थ है.¹ यदि हम वैदिक ऋषियों और देवों के सम्बन्ध कि बात करें तो मैकडोनाल्ड का मत है कि देवों और उनके याचकों के बीच कोई प्रेम अथवा भय का सम्बन्ध दिखाई नहीं देता.² वस्तुतः यह सम्बन्ध अधीनस्थ और अधिपती का नहीं है अपितु यह सम्बन्ध सहयोगी का है, एक मित्रवत सम्बन्ध है.³ किन्तु मेरे विचार से यह सम्बन्ध सहयोगी का भी नहीं है, बल्कि यह एक ही चेतना कि विभिन्न अवस्था और उसे प्राप्त करने के विभिन्न मार्ग को दर्शाता है. महर्षि अरविन्द ने देवों को परमब्रम्ह कि अभिव्यक्ति के रूप में व्याख्यायित किया है.⁴ देवों कि जो परिभाषा महर्षि दयानन्द ने दी है उसके अनुसार देव ईश्वर कि विभिन्न शक्तियों के नाम हैं. ऋग्वेद में ऐसी ऋचाएं हैं जिसके अनुसार मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सकता है.⁵ स्पष्ट है देवों के मित्र ऋषि साधारण मनुष्य नहीं हैं, मन्त्रदृष्टा स्वयं को देवों का अधीनस्थ नहीं मानता बल्कि उन्हें सहयोगी अथवा अभिष्ट लक्ष्य मानता है. प्रश्न है कि देवों कि भांति ऋषियों का स्वरूप जैसा हम समझते हैं वैसा ही है अथवा उसका कोई अन्य अर्थ है, वह मनुष्य हैं अथवा पार्थिवेतर सत्ता.

* अतिथि प्रवक्ता, महाराजा सुहेलदेव विश्वविद्यालय, आजमगढ़; शोधछात्र, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

** प्रोफेसर, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

¹ F. Max Muller, K. M.; India what it can teach us; LOXGMAKS, GREEN. AND CO.; London; 1882; pp 201

² The Sacred Books of The East Described and Examined; Hindu Series; Vol 1; The Vedas and Bramhanas; The Christian Literature Society of India; London and Madras; 1898; pp 121

³ ऋग्वेद 4.20.3, 10.66.14,

⁴ श्रीअरविन्द; वेद रहस्य; पूर्वार्द्ध; श्रीअरविन्द आश्रम; पॉण्डिचेरी; 2018; pp 29

⁵ ऋग्वेद 1.58.6 – अग्निदेव को मनुष्यों में देवत्व कि प्राप्ति हेतु स्थापित किया गया है. आचार्य श्रीराम शर्मा; ऋग्वेद संहिता भाग 1; युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट; मथुरा; 2010; pp 84

उपनिषद् का अध्ययन बताता है ऋषि केवल व्यक्ति नहीं एक विचार हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् कहता है⁶ “यह दोनों कान ही गोतम और भरद्वाज हैं..... यह दोनों नेत्र विश्वामित्र और जमदग्नि हैं..... यह दोनों नासारंघ ही वशिष्ठ और कश्यप हैं”। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् कहता है “अंगिरा ऋषि ने इस (मुख्य प्राण) के ही रूप में उद्गीथ की उपासना की थी अतः इस प्राण को अंगिरस मानते हैं क्योंकि यह संपूर्ण अंगों का रस है।”⁷ इसी प्रकार हिरण्यगर्भ प्राजापात्य नामक ऋषि ऋग्वेद के सूक्त 10.121 के दृष्टा ऋषि हैं⁸ और श्वेताश्वेतर उपनिषद् हिरण्यगर्भ को एक ऐसे स्थान के रूप में व्याख्यायित करता है जहाँ से परमब्रम्ह परीक्षक भाव से विद्या और अविद्या दोनों का शासन करता है।⁹ अन्य कई स्थानों पर भी हिरण्यगर्भ शब्द का अर्थ चेतन की शुद्धतम अवस्था के रूप में देखने को मिलता है। हम यह भी देखते हैं कि कई सूक्त के दृष्टा ऋषि के रूप में देवताओं का नाम मिलता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के प्रथम मंडल के सूक्त 165 में दृष्टा ऋषि के रूप में इंद्र एवं मरुद् गण का भी नाम आता है जो देवता भी हैं और ऋषि भी।¹⁰ मंडल 4 में सूक्त 18 एवं 26,¹¹ मंडल 8 के सूक्त 100 के चतुर्थ और पंचम श्लोक का दृष्टा ऋषि इंद्र हैं।¹² साथ ही ऋषियों और देवों के संयुक्त नाम भी हमें दृष्टा कवि के रूप में मिलते हैं उदाहरणार्थ प्रजापति वैश्वामित्र, अगस्त्य मैत्रावरुणि आदि।

हम जानते हैं की वैदिक देवताओं के स्वरूप का निर्धारण भी एक ऐसा विषय रहा है जो संदेह तथा अनुमान के पार नहीं है, किन्तु यदि हम शोधपत्र के दृष्टिकोण को लेकर आगे बढ़ें और इसके आध्यात्मिक स्वरूप को ध्यान में रखकर अपनी परिकल्पना बनाए तो यह स्पष्ट है कि जिन ऋचाओं के दृष्टा देव हैं, उनका अर्थ यह निकाला जाएगा कि यह सभी सूक्त ब्रम्हज्ञान कि अवस्था में उसकी अभिव्यक्ति के अलग अलग स्वरूप का दर्शन हैं। इसे विस्तार से समझने के लिए उपरोक्त परिकल्पना को एक ठोस आधार देना आवश्यक है। इसलिए दैवत्व और ऋचाओं के सम्बन्ध को समझने के लिए दो चरण हो सकते हैं, प्रथम हम देवों के आध्यात्मिक अर्थ को स्थित करके ऋचाओं का अर्थ स्पष्ट करें जो विधि महर्षि अरविन्द की है, दूसरा हम ऋचा का अर्थ समझकर उससे ऋषि के आध्यात्मिक अर्थ को समझने का प्रयास करें। इस शोधपत्र में ऋषि वशिष्ठ को अध्ययन का केंद्र बनाया गया है।

वशिष्ठ परंपरा और प्राण विद्या

ऋषि वशिष्ठ को उपनिषद् प्राणविद्या से जोड़ते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में कथा है कि प्राण तथा श्रोत, वाक् आदि इन्द्रियों में यह विवाद हुआ की उनमें कौन वशिष्ठ है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है।¹³ अंतिम रूप से यह निर्णय हुआ कि प्राण ही वशिष्ठ है। अतः इस आधार पर विचार करें तो वशिष्ठ कुल को प्राण विद्या से जोड़कर समझने का प्रयास करना चाहिए। इसकी पुष्टि के लिए हम ‘योगवाशिष्ठ’ के विषय को परिकल्पना के समर्थन में प्रयोग कर सकते हैं।

यद्यपि योगवाशिष्ठ का रचना काल अत्यंत बाद का है।¹⁴ यदि हम इसके प्राचीनतम अनुमानित काल को स्वीकार करें एवं वेद के काल को 1500 सा० सं० पू० स्वीकार करें¹⁵ तो भी दोनों ग्रंथों में कम से कम दो सहस्राब्दी

⁶ बृहदारण्यक उपनिषद् 2.2.4

⁷ छान्दोग्य उपनिषद् 1.2.10

⁸ यह ऋषि यजुर्वेद के भी कई मन्त्रों के दृष्टा हैं। आचार्य श्रीराम शर्मा; ऋग्वेद संहिता भाग 4; युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट; मथुरा; परिशिष्ट भाग 1 पू० सं० 30

⁹ श्वेताश्वेतर उपनिषद् 5.1; ईशादि नौ उपनिषद् शांकरभाष्यार्थ; गीता प्रेस; गोरखपुर; pp 1290

¹⁰ आचार्य श्रीराम शर्मा; ऋग्वेद संहिता भाग 1; युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट; मथुरा; 2010; pp 255

¹¹ आचार्य श्रीराम शर्मा; ऋग्वेद संहिता भाग 2; युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट; मथुरा; 2010; परिशिष्ट - 1; pp 2

¹² आचार्य श्रीराम शर्मा; ऋग्वेद संहिता भाग 3; युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट; मथुरा; 2005; परिशिष्ट - 1; pp 1

¹³ बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय 6, ब्रम्हण 1

¹⁴ “बी.एल. आत्रेय ‘योगवाशिष्ठ रामायण’ को 6ठी या 7वीं सदी की रचना मानते हैं। यानी कालिदास के बाद की और गौडपाद व भट्टहरि के पहले की रचना मानते हैं। उनका ऐसा मानने का आधार शायद यह हो सकता है कि भट्टहरि के वाक्यपदीय और ‘योगवाशिष्ठ रामायण’ के कुछेक श्लोक परस्पर मिलते हैं। डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता इसे 7वीं 8वीं सदी की रचना मानते हैं। श्री पी.सी. दीवानजी इस ग्रन्थ को 10वीं सदी का स्वीकारते हैं। प्रो. शिवप्रसाद भट्टाचार्य 10वीं या 12वीं सदी के बीच की

का अंतर है। किन्तु हम जानते हैं कि पूर्व मध्यकाल तक वैदिक ऋषि परंपरा चलन में थी। यह बात हमें इस काल के भूमि अनुदान से जुड़े अभिलेखीय साक्ष्यों में देखने को मिलती है। दान प्राप्त करने वाले ब्राह्मण की ऋषि परंपरा का उल्लेख प्राप्त होता है। यह दान प्राप्तकर्ता स्वयं को किसी वैदिक ऋषि से जोड़ते हैं अतः पूर्व मध्यकाल के ब्राह्मणों की परंपरा भी सीधे वैदिक परंपरा से जुड़ती है।¹⁶ इतिहासकारों का मत है कि इस काल तक लोकधर्म¹⁷ अर्थात् आम जनमानस कि धार्मिक मान्यताओं और वैदिक धर्म परम्परा में बहुत अंतर आ चुका था तथा ब्राह्मणों द्वारा स्वयं को वैदिक ऋषि परंपरा से जोड़ना स्वयं के ऐतिहासिक महत्व को स्थापित करने का प्रयास था। किन्तु जब हम इस काल के दार्शनिक चिंतन पर विचार करते हैं तो यह अनुमान अनुचित प्रतीत होता है। यह सत्य है कि पूर्व मध्यकाल में लोगों कि आस्था यज्ञ के साथ मंदिरों में भी अभिव्यक्त होने लगी थी, किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि ब्राह्मणों के शास्त्रार्थ से वैदिक ज्ञान परंपरा लुप्त हो गई थी। वस्तुतः भगवान शंकराचार्य, भगवान रामानुजाचार्य आदि ने अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन वैदिक ज्ञान परंपरा के आधार पर ही किया था। अतः यह सम्भव है कि ऋषि वशिष्ठ कि ज्ञान परंपरा भी इस काल तक संरक्षित रही हो, जो योगवाशिष्ठ के रूप में पुनर्व्यक्त हुई। जब हम उपनिषदों का अध्ययन करने के लिए सातवीं शताब्दी के बाद के दार्शनिक विमर्श जैसे अद्वैतवाद, विशिष्ट अद्वैतवाद आदि को आधार बना सकते हैं, तो ऋग्वेद कि ऋषि परंपरा को भी इस काल के ग्रन्थ के आधार पर समझने का प्रयास किया जा सकता है। यह सत्य है और निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है कि वैदिक ज्ञान परंपरा के कर्मकांडीय पक्ष को वर्तमान समय में भी उसके मूल स्वरूप में संरक्षित रखने के प्रयास हो रहे हैं इसलिए यह पूर्णतः सम्भव है की ऋषि वशिष्ठ से जुड़े आध्यात्मिक विचार को कम से कम पूर्व मध्यकाल तक तो अक्षुण्ण रखा गया होगा जो अंततः योगवाशिष्ठ में संकलित किया गया होगा। योगवाशिष्ठ उपनिषद के ज्ञान से जुड़े अद्वितीय ग्रंथों में एक है।¹⁸ योगवाशिष्ठ भगवान श्रीराम और उनके गुरु ऋषि वशिष्ठ के संवाद के रूप में अपने मंतव्य को व्यक्त करता है जिसके अनुसार संसार से पार उतरने के केवल दो मार्ग हैं। प्रथम आत्मज्ञान और द्वितीय प्राण निरोध। साधारण शब्दों में प्रथम ज्ञान मार्ग और द्वितीय योग मार्ग है।¹⁹

योगवाशिष्ठ का यह स्वरूप, विशेष रूप से द्वितीय पक्ष अर्थात् प्राण विद्या से ग्रन्थ का सम्बन्ध, उपनिषद के इसी विचार को अभिव्यक्त करता है कि प्राण ही वशिष्ठ है। अतः यह सम्भव है कि ऋषि वशिष्ठ कि परंपरा का प्रथम सिद्धांत प्राण को साधने से जुड़ा रहा होगा अर्थात् वशिष्ठ परंपरा को मानने वाले ब्रह्मज्ञान हेतु योग तथा प्राण को साधने की क्रिया को सर्वोत्तम मार्ग मानते थे।

वशिष्ठ परंपरा और आत्मज्ञान

ऋषि वशिष्ठ ऋग्वेद के सप्तम् मंडल के दृष्टा ऋषि हैं। सप्तम् मंडल की उन ऋचाओं, जिनका दर्शन ऋषि वशिष्ठ परम्परा द्वारा किया गया है, उनके अध्ययन में हमें ज्ञानमार्गी परंपरा का तत्व मिलना चाहिए। हम सप्तम्

रचना मानते हैं। डॉ. राघवन इस कृति का रचनाकाल सन् 1100 ई. से लेकर सन् 1300 ई. तय करते हैं। श्री टी. जी. मेन्कर मानते हैं कि 'योगवासिष्ठ रामायण' के रचयिता मम्मट के काव्यप्रकाश से परिचित हैं, अतः वे इस कृति को 12वीं सदी की घोषित करते हैं। डॉ. जे.एन. फरक्युहर इस कृति को 13वीं या 14वीं सदी के बीच की मानते हैं।" प्रा. नयनाबहन सी. पटेल; ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा एवं मूल्यमीमांसा के संदर्भ में योगवासिष्ठ रामायण का अभ्यास; शोध प्रबंध; संस्कृत विभाग एवं अनुस्नातक केन्द्र एम.बी.आर्ट्स एण्ड कॉमर्स कॉलेज, गोंडल; सौराष्ट्र विश्वविद्यालय; 2015; pp 105

¹⁵ यद्यपि यह सर्वमान्य स्वीकृत काल नहीं है।

¹⁶ सिंह, उपिन्दर; प्राचीन एवं पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास; अनु० हितेंद्र अनुपम; Pearson; 2022; pp 620

¹⁷ यहाँ धर्म का अर्थ पूजा पद्धति से लिया गया है।

¹⁸ प्रा. नयनाबहन सी. पटेल; op. cit. pp 97-98

¹⁹ आचार्य श्रीराम शर्मा; योगवासिष्ठ भाग 1; संस्कृत संस्थान; बरेली; 1977; pp 15

मंडल के प्रथम सूक्त को अपने अन्वेषण का विषय बनाएंगे.²⁰ सप्तम् मंडल का प्रथम सूक्त की प्रथम ऋचा कहती है। अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युती जनयन्त प्रशस्तम्। दूरेदशं गृहपतिमथर्युम् ॥१॥ अग्निम् । नरः । दीधितिभिः । अरण्योः । हस्तच्युती । जनयन्त । प्रशस्तम् । दूरेदशम् । गृहपतिम् । अथर्युम् ॥ हिंदी रूपान्तरण²¹ :- प्रशंसनीय, गतिमान्, दूर से परिलक्षित होने वाले गृहपति अग्नि को नर श्रेष्ठों ने हाथों और अँगुलियों की कुशलता से प्राप्त किया ॥१॥

व्याख्या :- इस व्याख्या में एक शब्द पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। अरण्योः जिसका अर्थ 'दो अरणीयों में' होता है।²² यज्ञ के लिए अग्नि प्रज्वलित करने हेतु अरणी का प्रयोग होता था। यहाँ ऋषि अरणी और अग्नि का संदर्भ, यज्ञ की प्रक्रिया के लिए भी दे रहा है।

हम जानते हैं कि यज्ञ कर्मकाण्डीय पक्ष के साथ आध्यात्मिक पक्ष को भी लेकर चलते हैं। महर्षि अरविन्द ने कर्मकाण्ड को आध्यात्मिक ज्ञान की आधारशिला मानते हुए उसे मूल ज्ञानमार्ग की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति माना है।²³ यज्ञ की व्याख्या उन्होंने निष्काम कर्म के रूप में की है²⁴ तथा श्रीमद्भगवद्गीता भी इस विचार की पुष्टि करती है।²⁵ स्वयं अग्नि को दिव्य संकल्प माना जाता है²⁶ क्योंकि इस दिव्य संकल्प से ही निष्काम कर्म का यज्ञ सृजित होता है और कर्म भस्म होते हैं। ऐसी अग्नि को उत्पन्न करने वाली अरणि भी किसी आध्यात्मिक अर्थ को अपने भीतर समेटे होगी। अरणि कि यह आध्यात्मिक अभिव्यक्ति क्या है?

अरणि की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के संदर्भ में उपनिषद् में एक श्लोक है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् कहता है अपने देह को अरणि और प्रणव को उत्तरारणि करके ध्यान रूप मंथन के अभ्यास से स्वप्रकाश परमात्मा को छिपे हुए अग्नि के समान देखो।²⁷ इस प्रकार सप्तम् मंडल की प्रस्तुत ऋचा में अरणियों का अर्थ देह और प्रणव के रूप में भी लिया जा सकता है। वस्तुतः यह अर्थ वशिष्ठ परंपरा के सन्दर्भ में की गई हमारी प्रथम व्याख्या के भी अनुरूप है जिसमें वशिष्ठ परंपरा को प्राणविद्या से जोड़ा गया था। इस प्रकार से देखने पर श्लोक जो अर्थ व्यक्त कर रहा है उसे हम इस प्रकार लिख सकते हैं।

प्रशंसनीय, गतिमान् , दूर से परिलक्षित होने वाले गृहपति अर्थात् इस शरीर की स्वामी अग्नि अथवा दिव्य संकल्प को श्रेष्ठ नर अपने हाथों से अर्थात् स्वयं के प्रयास से प्रणव साधन द्वारा देह को माध्यम बनाकर प्राप्त करते हैं।

²⁰ व्याख्या के लिए क्रमशः निम्नवत् ऋग्वेद भाष्य प्रयोग हुए हैं।

1. सरस्वती, महर्षि दयानंद; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका; आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट; दिल्ली; 2010
2. पं. हरिशरण सिध्दान्तालंकार; ऋग्वेदभाष्यम्; श्री घुडामल प्रहलाद कुमार आर्य धर्मर्थ ट्रस्ट; दिल्ली; 2013
3. पं० शर्मा, जयदेव; ऋग्वेद भाषा भाष्य; आर्य साहित्य मंडल; अजमेर; 2000
4. आचार्य श्रीराम शर्मा; ऋग्वेद संहिता भाग 3; युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट; मथुरा; 2005;

²¹ प्रस्तुत सूक्त की सभी ऋचाओं का हिंदी रूपान्तरण आचार्य श्रीराम शर्मा जी के भाष्य से लिया गया है। अन्य ऋचाओं के हिंदी रूपान्तरण का मुख्य आधार भी आचार्य श्रीराम शर्मा के भाष्य को ही बनाया गया है किन्तु ऋचा के अर्थ की व्याख्या में अन्य भाष्य कारणों द्वारा प्रयुक्त व्याख्याओं का भी प्रयोग आवश्यकता अनुसार किया जाएगा।

²² पं. हरिशरण सिध्दान्तालंकार जी की व्याख्या से।

²³ श्रीअरविन्द; वेद रहस्य; उत्तरार्ध; श्रीअरविन्द आश्रम; पॉण्डिचेरी; 2015; pp 395

²⁴ श्रीअरविन्द; गीता प्रबंध; श्री अरविन्द आश्रम; 2017; pp 123-26

²⁵ ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥4.19॥ श्रीमद्भगवद्गीता

जिसके समस्त कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हुये कर्मों वाले पुरुष को जानीजन पण्डित कहते हैं।

²⁶ श्रीअरविन्द; वेद रहस्य; पूर्वार्ध; op.cit.; pp 31

²⁷ स्वदेहमरणं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाददेवं पश्यन्निगृह्यत्॥

श्वेताश्वेतर उपनिषद्; ईशादि नौ उपनिषद् शांकरभाष्यार्थ; गीता प्रेस; गोरखपुर; pp 1212

यह उपरोक्त व्याख्या वशिष्ठ परंपरा के प्रथम विचार को व्यक्त करती है जो ब्रम्ह ज्ञान के साधन की व्याख्या कर रही है। ऐसा नहीं है की यह सम्पूर्ण सूक्त केवल आध्यात्मिक उपलब्धि को परिलक्षित करता है। यथा सूक्त का दृष्टा ऋषि अग्नि से कामना करता है की वह यज्ञकर्ता को संतान और धन प्रदान करे।²⁸ यज्ञकर्ता का अनुरोध है की अग्नि देव उसकी पापों से रक्षा करे²⁹, आसुरीय माया से रक्षा करे।³⁰ इसलिए अग्नि अथवा दिव्य संकल्प केवल ब्रम्हज्ञान का साधन नहीं है। यह लौकिक उपलब्धि का साधन भी है तथा माया के विरुद्ध कवच भी। हमें अग्नि की पूर्णता को समझकर सूक्त के मूल विचार को और विस्तार से समझना होगा जिससे हम वशिष्ठ परंपरा को भली प्रकार समझ सकें।

कठोपनिषद् में यम द्वारा नचिकेता को अग्नि का ज्ञान दिया जाता है। अग्नि की विद्या को समझाकर अंततः यम कहते हैं अब से यह अग्नि तेरे नाम से जानी जाएगी।³¹ इसके बाद वह कहते हैं “त्रिविध नचिकेता, त्रिविध कर्म से युक्त होकर, जन्म-मरण से पार हो जाता है तथा ब्रह्म से उत्पन्न आराध्य, तेजस्वी, सर्वज्ञ अग्नि को जानकर तथा उसका साक्षात्कार करके पूर्ण शांति को प्राप्त होता है।”³² क्योंकि इसके पूर्व श्लोक में अग्नि का एक नाम नचिकेता बताया गया है इसलिए श्लोक में आए त्रिणाचिकेत शब्द का अर्थ तीन प्रकार की अग्नि भी हो सकता है। तीन प्रकार की अग्नि को जानकर त्रिविध कर्म से युक्त हो मनुष्य जन्म और मृत्यु को पार कर सकता है। किन्हीं व्याख्याकारों द्वारा तीन प्रकार के कर्म यज्ञ, दान और तप के रूप में बताए जाते हैं। सम्भव है की यहाँ तीन प्रकार के कर्म का तात्पर्य तीन ऋण (देव, ऋषि और पितृ) को उतारने से हो।

कर्म कोई भी हो यह सभी कर्म संकल्प से जन्म लेंगे और तीन प्रकार के कर्म के लिए तीन प्रकार की अग्नि की आवश्यकता को कठोपनिषद् में स्वीकार किया गया है, प्रश्न है की यह तीन प्रकार की अग्नि क्या है। सम्भव है यह देहिक, दैविक और आध्यात्मिक ताप को समाप्त करने की संकल्पशक्ति हो, सम्भव है यह त्रिगुण माया से उत्पन्न संकल्प हो। वस्तुतः यह त्रिगुण माया से उत्पन्न संकल्प ही है,³³ किन्तु उसका स्वरूप साधारण संकल्प के समान नहीं है। त्रिगुण माया से उपजा साधारण संकल्प उन गुणों के अधीन होगा जैसे क्रोध से उत्पन्न संकल्प तमोगुणी है, ऐश्वर्यशाली कर्म का संकल्प रजोगुणी है और करुणा से उपजा संकल्प सतोगुणी है। किन्तु ब्रम्ह को जान लेने पर यह सभी संकल्प अपने क्रियात्मक पक्ष में त्रिगुणजनित दिखने पर भी दिव्य होते हैं। आत्मज्ञान संपन्न मनुष्य किसी गुण से घृणा नहीं करता, भगवान् शंकराचार्य ने इसकी सरल व्याख्या करते हुए कहा है कि घृणा अपने से भिन्न किसी दूषित पदार्थ को देखने वाले पुरुष को ही होती है।³⁴ जो ब्रम्हबोध संपन्न आत्मज्ञानी है वह सभी में आत्मस्वरूप देखता है, वह किसी गुण का त्याग नहीं करता, मोह, क्रोध, करुणा, ऐश्वर्य जैसे गुणों को प्रेक्षक भाव से देखता है और अभिनय करता है। वह कर्म करता है किन्तु उद्वेग रहित होकर,³⁵ वह कर्म क्रोध का हो, मोह का हो, करुणा का हो अथवा ऐश्वर्यशाली हो। यह बात योगवाशिष्ठ के नायक श्रीराम के चरित्र से स्पष्ट होती है। श्रीराम का समुद्र पर क्रोध तमोगुण नहीं है, भले क्रोध तमोगुण की पहचान है, क्योंकि वह लीला है। अपनी भार्या सीता के वियोग पर मोहग्रस्त दिखना भी उन पूर्ण मानव की लीला है। संसार में पूर्ण लिप्त दिखने पर भी योगवाशिष्ठ के नायक मुक्त हैं।

²⁸ 7.1.11-12

²⁹ 7.1.15

³⁰ 7.1.10

³¹ कठोपनिषद् 1.1.16

³² त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृतरति जन्ममृत्युः।

ब्रह्मज्जनं देवमिदं विदित्वा निकयेमाम् शांतिमत्यन्तमेति ॥ 17॥

³³ वास्तव में सभी प्राणी प्रकृति द्वारा उत्पन्न तीन गुणों के अनुसार कर्म करने के लिए विवश होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता 3.5

³⁴ ईशादि नौ उपनिषद् शांकरभाष्यार्थ; गीता प्रेस; गोरखपुर; pp 38

³⁵ योगवाशिष्ठ की कथा के अनुसार भगवान् श्रीहरि ने प्रह्लाद जी को आदेश दिया “साधो! अब उठो, शीघ्र उठो और इस विशाल दैत्य-राज्यलक्ष्मीका तथा अपने स्वरूपका स्मरण करो। अनघ । तुम तो जीवन्मुक्त हो, अतः राज्यशासन करते हुए ही उद्वेगरहित होकर अपने इस शरीरको कल्पान्तपर्यन्त कमेमिं प्रेरित करते रहो। ” योगवाशिष्ठ; गीता प्रेस; गोरखपुर; 2संवत् 2073; pp 264

यही योगवाशिष्ठ का मूल विषय है की सन्यास का अर्थ संसार का त्याग न होकर उसकी क्षणभंगुरता, परिवर्तनशीलता को स्वीकार करते हुए नित्य कर्मरत रहना। यह विचार ईशोपनिषद् में भली प्रकार व्याख्यायित है की जो केवल संसार में लिप्त हैं वह अंधकार को प्राप्त होते हैं और जो केवल विद्या के पीछे भागते हैं वह और अधिक अन्धकार को प्राप्त करते हैं।³⁶ अतः जो कोई ब्रह्म से उत्पन्न आराध्य, तेजस्वी, सर्वज्ञ अग्नि को जानकर तथा उसका साक्षात्कार करके, अग्नि के तीन रूप जानता है, तीन गुणों से उत्पन्न संकल्प को जानता है, जानकर कर्म करता है, वह जन्म और मृत्यु को पार करके शांति को प्राप्त होता है।

वशिष्ठ परम्परा इसी विचार को अभिव्यक्त कर रही है इसलिए उपरोक्त सूक्त की प्रथम ऋचा में प्राण को साध कर अग्नि को प्रज्वलित करने की बात की गई है। यह नचिकेता कि अग्नि ही है। जब यह दिव्य अग्नि जागृत हो गया, प्राण को साध कर मन को उद्वेदरहित कर लिया गया, तब वह अग्नि माया से रक्षण करने वाली कवच भी है और भौतिक वस्तुओं की प्राप्ति का साधन भी। अग्नि दिव्य संकल्प है, किन्तु वह संकल्प संसार के भौतिक त्याग की प्रेरणा नहीं है, वह संकल्प है धनोपार्जन एवं सन्तानोत्पत्ति का संकल्प, संसार को भोगने का संकल्प किन्तु माया से सुरक्षित रहने का भी संकल्प।

निष्कर्ष :-

वैदिक ऋषि वशिष्ठ सम्भवतः केवल एक व्यक्ति नहीं एक आध्यात्मिक विचार का अभिव्यक्तीकरण है, इस अवधारणा को स्वीकार करने के लिए भारतीय धर्म शास्त्रों में ठोस कारण उपस्थित हैं। संभव है कि इस आध्यात्मिक विचार की उत्पत्ति किसी एक ऋषि द्वारा हुई हो जिनका नाम वशिष्ठ रहा हो। सम्भव है इस विचार के समर्थक ऋषियों के अपनी परम्परा को 'वशिष्ठ' अर्थात् 'श्रेष्ठ में श्रेष्ठतम' नाम दिया हो। वशिष्ठ परम्परा के सिद्धांत के तीन पहलू हैं। प्रथम आत्मज्ञान ही संसार से मुक्ति का एकमात्र उपाय है, द्वितीय यह की संसार से विरक्ति का तात्पर्य संसार का भौतिक त्याग नहीं बल्कि उसमें सक्रिय भागीदारी है, यह भागीदारी पूर्ण हो, पूर्ण विरक्ति के साथ है।³⁷ इस स्थिति की प्राप्ति का माध्यम प्राण को साधना है जो इस यात्रा का आरम्भबिंदु और मार्ग का वाहन है, इसी से वशिष्ठ परम्परा का प्रथम श्लोक दो अरणियों से अग्नि को प्रज्वलित करने का उपदेश देता है। यह वशिष्ठ सिद्धांत का तृतीय पहलू है।

जिन वैदिक ऋषियों अथवा दृष्टा कवियों को हम साधारण मनुष्य समझते हैं वह वास्तव में किसी आध्यात्मिक विचार की अभिव्यक्ति हैं। वैदिक दर्शन पर पुस्तक लिखने वाले अंग्रेज विद्वान मैकडोनल का मानना था की वेदों के अध्ययन के लिए भारतीय दर्शन के अन्य ग्रंथों का आधार लेकर किया गया शोधकार्य सत्य के अधिक समीप पहुंच सकेगा।³⁸ यह आवश्यक है कि हम वैदिक देवताओं, यज्ञ के स्वरूप, ऋषियों आदि को लेकर अपने भावी शोधकार्यों में उपनिषदादि अन्य भारतीय ग्रंथों को आधार बनाएं। अंगिरा, विश्वामित्र, कश्यप, अत्रि, भारद्वाज भी अलग अलग आध्यात्मिक विचारों, ब्रह्म की अभिव्यक्ति के अलग-अलग मार्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रसिद्ध वचन 'एकम् सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' के माध्यम से दृष्टा कवि इन्हीं अलग-अलग मार्गों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाह रहा है।



³⁶ अन्धं तमः प्रनिशन्ति येऽनिद्यामुपासते ।

ततो भूय इति ते तमो य उ निद्याया रताः ॥ ९॥ ईशोपनिषद्

³⁷ गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीरामचरितमानस में राम के स्वरूप का ऐसा ही विरोधाभासी स्वरूप दिखाया है।

³⁸ मैकडोनल, ए० ए०; वैदिक माइथोलोजी; अनु० रामकुमार राय; चौखम्बा विद्याभवन; वाराणसी; 2014; pp 8

स्त्री शिक्षा : बौद्ध काल के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. दिलीप कुमार सिंह*

डॉ. राजेश कुमार सिंह**

प्रस्तावना:-

किसी भी राष्ट्र या समाज के सर्वांगीण विकास के लिए स्त्री शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। विकसित और सभ्य समाज में सुशिक्षित और सुसंस्कृत स्त्री का बहुत योगदान होता है। एक स्त्री ही अपने बच्चों की प्रथम शिक्षक और गुरु होती है, इसलिए एक स्त्री या माता का शिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। बच्चे ही राष्ट्र का भविष्य होते हैं और माता द्वारा दी गयी प्रथम शिक्षा ही उन्हें समाज के कर्तव्यों के प्रति निष्ठावान बनाती है। स्त्री शिक्षा की अनिवार्यता के लिए संस्कृत की उक्ति भी प्रसिद्ध है, **“नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति मातृ समो गुरुः”** इसका अर्थ यह है कि संसार में विद्या जैसा नेत्र नहीं है और माता के समान गुरु नहीं है। भारतीय संस्कृति प्राचीन वैदिक काल से ही स्त्री शिक्षा और उनके सम्मान के प्रति सदैव जागरूक रहा है। हमारे वेदों में स्त्री के सम्मान में कहा गया है कि **“यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता, यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्र फलाः क्रियाः”** अर्थात् जहाँ पर नारी की पूजा होती है वहाँ देवता का निवास होता है और जहाँ पर नारी का सम्मान नहीं होता वहाँ पर सभी धार्मिक क्रियाएँ निष्फल हो जाती है।

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही स्त्री शिक्षा और उनके सम्मान के प्रति पूर्ण समर्पित रहा है। वैदिक काल में अनेकों विदुषी महिलायें भारतवर्ष में हुई जिन्होंने पुरुष विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ किया। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, अपाला, घोषा, विश्वावारा और विद्योत्मा जैसी विदुषी महिलाओं ने सम्पूर्ण भारतवर्ष को गौरवान्वित करवाया।

संकेत शब्द:- स्त्री शिक्षा, सुशिक्षित, सुसंस्कृत, निष्ठावान, वैदिक काल, धार्मिक क्रियाएँ, शास्त्रार्थ, गौरवान्वित।

बौद्ध काल में स्त्री शिक्षा:-

वैदिक काल की ही भाँति महिलाओं की शिक्षा का विकास बौद्ध काल में भी हुआ। अपने उत्कर्ष काल में बौद्ध धर्म ने धार्मिक विमर्श में स्त्रियों को भागीदार बनाया। भगवान बुद्ध ने शुरू में स्त्रियों को संघ में प्रवेश नहीं दिया था, परन्तु कुछ समय पश्चात् प्रिय शिष्य आनन्द के कहने पर वैशाली में प्रथम बार स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति दी। जिसके बाद स्त्रियों के सामाजिक एवं शैक्षिक जीवन में अत्यधिक सुधार हुआ। मठों में स्त्रियों को शिक्षा प्राप्ति का अधिकार पुरुषों के ही बराबर था। बौद्ध काल में भी वैदिक काल की ही भाँति स्त्री और पुरुष दोनों को एक समान संस्कारों का पालन करना पड़ता था जैसे- मुण्डन, भिक्षाटन, वाद-विवाद तथा वस्त्रादि। अनेक मठवासी स्त्रियों ने कई श्लोक भी लिखे, जिन्हे थेरीगाथा कहते हैं। भिक्षुणियों के 73 गीतों एवं 522 कवित्तों का संग्रह थेरीगाथा में है। अनेक विदुषी भिक्षुणियों का बौद्ध ग्रन्थों में भी वर्णन मिलता है, जिनका ज्ञान उच्चतम स्तर का था। खेमा नामक बौद्ध भिक्षुणी जिनका वर्णन संयुक्त निकाय में मिलता है, जिसने कोसल नरेश प्रसेनजित के सम्मुख उपदेश दिया था और उनके उपदेश से प्रसेनजित इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने स्वयं सिंहासन से उठकर खेमा भिक्षुणी के पास जाकर उनको सम्मानित किया था। अंगुत्तर निकाय में विशाखा नामक एक अन्य उपासिका का भी उल्लेख मिलता है। जिसने धम्मदीना थेरी से कुछ प्रश्न पूछे थे। धम्मदीना थेरी द्वारा विशाखा के प्रश्नों का उत्तर सुनकर भगवान बुद्ध ने कहा धम्मदीना थेरी वास्तव में विदुषी है। भगवान बुद्ध ने कहा यदि ये प्रश्न मुझसे पूछे गये होते तो मैं भी इसका यही उत्तर देता। पत्ताचारा नामक एक बौद्ध भिक्षुणी भी थी जो बौद्ध सिद्धान्तों को भली-भाँति जानती थी। जिन्होंने चंदा नामक एक ब्राह्मण स्त्री को जो कि अपने माता-पिता की मृत्यु के कारण अकेली रह गयी थी, स्वयं बौद्ध सिद्धान्तों में दीक्षित कर बौद्ध संघ में प्रवेश दिलाया था। राजगृह के सम्पत्ति संपन्न सेठ की पुत्री भद्रा कुण्डल केशा ने भी अपने ज्ञान और विद्या के द्वारा सभी को अपनी ओर आकृष्ट करती थी।

राजगृह के गृहपति विशाख की पत्नी धर्मदिन्ना थी। विशाख भगवान बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर बौद्ध भिक्षु हो गया था। जब भगवान बुद्ध राजगृह आये तो विशाख ने अपनी पत्नी धर्मदिन्ना से शास्त्रार्थ किया, उसके सभी प्रश्नों का धर्मदिन्ना ने बहुत ही

* शोध छात्र, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, डा० राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या, उ० प्र०

** एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, डा० राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, अयोध्या, उ० प्र०

समुचित और सुबोध उत्तर दिया। विशाख ने जब धर्मदिग्धा के विषय में भगवान बुद्ध को बताया तो उन्होंने उसकी प्रशंसा की और कहा वह पंडिता है, महाप्रज्ञा है। धर्म ज्ञान में धर्मदिग्धा अपने पति विशाख से भी आगे थी।

बौद्ध काल में बौद्ध भिक्षुणियाँ भगवान बुद्ध के साथ अपना सम्बन्ध प्रकट करती थी। स्वयं भगवान बुद्ध ने भी स्त्रियों की निर्माण प्राप्ति की योग्यता को ही स्वीकार किया है और स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक योग्य मानते थे। स्त्रियों का संघ में प्रवेश उनके माता-पिता अथवा पति के आज्ञा के पश्चात् ही सम्भव था। भगवान बुद्ध कहते थे कि पति और पतिकुल की सेवा स्त्रियों का पुनीत कार्य है।

बौद्ध धर्म महिलाओं को पुरुषों से तनिक भी कम नहीं मानता है। बौद्ध धर्म स्त्री और पुरुष दोनों के बीच भौतिक और शारीरिक अन्तर को स्वीकार करते हुए, दोनों को समाज के लिए समान रूप से उपयोगी मानता है। भगवान बुद्ध इस बात पर अत्यधिक जोर देते हैं कि परिवार के सभी सदस्यों के जीवन को सफल बनाने में एक माँ और एक पत्नी के रूप में महिलाओं की भूमिका सर्वाधिक उपयोगी है। एक सभ्य समाज में परिवार के लिए पति और पत्नी की जिम्मेदारी, उनका समर्पण और अपने कर्तव्यों के उचित निर्वहन की अपेक्षा की जाती है। बौद्ध धर्म में पति को अपनी पत्नी को एक दोस्त, एक साथी और एक भागीदार की तरह व्यवहार करने की सलाह दी जाती है। इससे पता चलता है कि बौद्ध समाज में पत्नी का पति के साथ ऊँच-नीच का नहीं बल्कि बराबर का स्थान था।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार महिलाओं की शैक्षणिक अवसरों या उनकी धार्मिक स्वतंत्रता पर बौद्ध धर्म कोई भी प्रतिबंध नहीं लगाता है। भगवान बुद्ध ने बिना किसी संदेह के स्वयं कहा है कि सत्य को समझने में महिलाएँ भी पुरुषों की ही तरह सक्षम हैं। यही कारण है कि उन्होंने प्रिय शिष्य आनन्द के कहने पर स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति दी। बौद्ध ग्रन्थों में अनेक प्रख्यात संत भिक्षुणियों का उल्लेख है, जो बहुत विद्वान थी और धम्म का प्रचार करने में विशेषज्ञ थी। थेरीगाथा में अनेक छंद हैं जो संत भिक्षुणियों द्वारा संघ में प्रवेश करने और सत्य का साक्षात्कार करने की क्षमता पर अनुभव की गई खुशी की भावनाओं को स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं।

चुल्लवग्ग में इस प्रकार का भी वर्णन मिलता है कि भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित बौद्ध धर्म में यदि स्त्रियों को प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति नहीं प्रदान की गयी होती तो यह विशुद्ध धर्म चिरस्थायी रहता। बौद्ध धर्म में स्त्रियों के शामिल होने के पश्चात् भगवान बुद्ध ने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा कि यह विशुद्ध धर्म अब केवल पाँच सौ वर्षों तक ही स्थिर रह पायेगा। तथागत अपने द्वारा स्थापित विशुद्ध बौद्ध धर्म को चिरस्थायी बनाने के लिए ही स्त्रियों को अपने धर्म और संघ में शामिल नहीं करना चाहते थे, किन्तु बौद्ध धर्म और बौद्ध संघ में शामिल होने के पश्चात् अनेक विदुषी स्त्रियाँ बौद्ध आगमों की शिक्षिकाओं के रूप में विश्वविख्यात हुईं। 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी और 18 विवाहित बौद्ध भिक्षुणियाँ थेरीगाथा की कवयित्रियाँ थी। इन कवयित्रियों में शुभा, सुमेधा और अनुपमा उच्च वंश की कन्याएँ थी। इन कन्याओं से अनेक राज कुमार और धन सम्पन्न सेठों के पुत्र विवाह करने के लिए उत्सुक थे। संयुक्त निकाय से पता चलता है कि व्याख्यान देने के लिए सुभद्रा नामक भिक्षुणी प्रसिद्ध थी।

भगवान बुद्ध द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म में शामिल होने के लिए और बौद्ध धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए स्त्रियों का भी पुरुषों की ही भाँति प्रव्रज्या संस्कार होता था। प्रव्रजित नारी ही भिक्षुणी कही जाती थी। आजीवन भिक्षुणी बनकर बौद्ध संघ की सेवा करने वाली भिक्षुणियों का उपसम्पदा संस्कार होता था। भिक्षु और भिक्षुणी का उपसम्पदा संस्कार भी समान रूप से ही सम्पन्न किया जाता था। भगवान बुद्ध ने संघ में प्रवेश के लिये स्त्रियों को प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा की अनुमति तो दी थी परन्तु इसके साथ-साथ स्त्रियों के लिए आठ शर्तें बतायी थी, जो निम्न थी-

1. भिक्षुणियाँ श्रमणों का आदर करेंगी।
2. अभिक्षु-कुल में भिक्षुणियों का वर्षावास नहीं होगा।
3. भिक्षुणियाँ भिक्षु संघ से प्रत्येक पखवार को उपोसथ प्राप्त करेंगी।
4. भिक्षुणियों को प्रत्येक वर्षावास के अनन्तर दोनों संघों में दृष्ट, श्रुत और परिशंकित तीनों स्थानों में प्रवारण करनी पड़ेगी।
5. भिक्षुणियाँ दोनों संघों में पक्ष मानना करेंगी।
6. दो वर्ष के अन्तर्गत छः धर्मों में शिक्षित होकर भिक्षुणी को दोनों संघों में उपसम्पदा की प्रार्थना करनी पड़ेगी।
7. आक्रोश परिभाषण भिक्षुणी के लिए निषेध था।
8. भिक्षुणियाँ, भिक्षुओं के सम्बन्ध में कुछ भी कहने के लिए पूर्णतः प्रतिबंधित थी।

नारियों के लिए आध्यात्मिक मुक्ति का मार्ग भी भगवान बुद्ध ने खोला। भगवान बुद्ध पुरुष और नारियों के लिये समान आध्यात्मिक दृष्टि रखते थे। भगवान बुद्ध द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म में गरीब और अमीर सभी प्रकार की स्त्रियों के लिये एक समान स्थान प्राप्त था और सभी का संघ में एक समान स्वागत होता था। भगवान बुद्ध की दृष्टि में स्त्री सदैव श्रद्धेय थी और स्त्रियों के प्रति उनके विचार

हमेशा सदाचरण पूर्ण होते थे। स्त्रियों के प्रति आदरणीय विचार एवं सदाचरण का भाव रखने का उपदेश सदैव भगवान बुद्ध अपने अनुयायियों को देते थे। भगवान बुद्ध को यह सत्य अवगत था कि मानव सभ्यता को अनन्त काल तक स्थायित्व प्रदान करने के लिए समाज का सदाचारी होना अत्यन्त आवश्यक है। गौतम बुद्ध ने पुरुष को नारी के प्रति मर्यादित एवं नैतिकतापूर्ण व्यवहार एवं दृष्टिकोण रखने की बात कही। गौतम बुद्ध ने भिक्षुओं को यह उपदेश दिया था कि **“वृद्धा स्त्री को माता समझो, युवती को अपनी बहिन और बच्ची को अपनी पुत्री मानो।”** गौतम बुद्ध ने अपने सम्पर्क में आने वाली तीनों प्रकार की नारियों (माताओं, भिक्षुणियों एवं उपासिकाओं) के कल्याणार्थ धर्मोपदेश दिये।

भगवान बुद्ध महिलाओं की हीन दशा को सुधारने और शिक्षा को उच्चतम स्तर पर लाने के लिए आजीवन प्रयासरत रहे। शिक्षा के महत्व से भगवान बुद्ध भलीभाँति परिचित थे। गौतम बुद्ध द्वारा स्थापित भिक्षुणी संघ ने स्त्रियों की शिक्षा के क्षेत्र में बहुत ही महत्वपूर्ण कदम उठाये थे। भिक्षुणी संघ में स्त्रियों को शैक्षिक एवं आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर पहुँचने के सुनहरे अवसर प्राप्त थे। भगवान बुद्ध के भिक्षुणी विहार में प्रव्रजित एवं गृहस्थ दोनों प्रकार की नारियों के शिक्षण की व्यवस्था थी। बौद्ध काल और उसके पूर्व काल में स्त्रियों को जहाँ पुरुषों से कम महत्व दिया जाता था, वहीं पर अनेक विदुषी भिक्षुणियों ने अपनी विद्वता के बल पर समाज में अत्यधिक सम्मान भी प्राप्त किया।

निष्कर्ष-

स्त्री शिक्षा के महत्व को समझते हुए महात्मा बुद्ध ने स्त्रियों को बौद्ध संघ में प्रवेश दिया, जिससे बौद्ध धर्म में स्त्री शिक्षा के लिए नवीन मार्ग प्रशस्त हुआ। भगवान बुद्ध ने सदैव इस बात का सम्पूर्ण समर्थन किया कि ज्ञान और आध्यात्मिक विकास प्राप्त करने में स्त्रियाँ भी पुरुषों के ही समान अधिकार रखती हैं। गौतम बुद्ध ने तत्कालीन समाज द्वारा स्त्रियों के साथ किये जा रहे भेदभाव का खंडन किया और उन्हें समान अवसर प्रदान करने की बात कही। गौतम बुद्ध के इन्हीं विचारों से प्रेरित हो कर अनेक विदुषी महिलाओं ने बौद्ध संघ में प्रवेश लिया और शिक्षा प्राप्त की, जिसके पश्चात् वे विश्वविख्यात हुईं। बौद्ध साहित्यों में भी स्त्रियों को ज्ञान प्राप्त करने और आध्यात्मिक विकास करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है। स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार देकर उन्हें सशक्त बनाना और समाज में सम्मानजनक स्थान प्रदान करवाने का कार्य भी बौद्ध धर्म ने किया। बौद्ध धर्म में स्त्रियों को मठों और विहारों में शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति थी और उन्हें धर्म, दर्शन और अन्य विषयों का अध्ययन करने का अवसर भी मिलता था। स्त्रियों की शिक्षा, और आध्यात्मिक विकास को बौद्ध धर्म में तथा भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिबन्धित नहीं किया गया था, अपितु पुरुषों के बराबर स्त्रियों को भी पर्याप्त अवसर प्रदान किया गया था। भगवान बुद्ध ने स्त्रियों की शिक्षा, आध्यात्मिक विकास और सामाजिक भूमिकाओं में पुरुष के समान ही महत्वपूर्ण माना है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. सांस्कृत्यायन, भिक्षु राहुल, दीघ निकाय, प्रथम सुत्त, महाबोधि सभा, बनारस, 2000।
2. आल्टेकर, ए. एस., एजुकेशन इन एनसिएन्ट इण्डिया, वाराणसी, 1994।
3. सिंह, डा. अनिल कुमार, बौद्ध कालीन शिक्षा पद्धति, कला प्रकाशन, बनारस हिन्दु विश्विद्यालय, वाराणसी, 2008।
4. सिंह, महेन्द्र नाथ, बौद्ध तथा जैन धर्म, विश्विद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1990।
5. बरुआ, बी. जी., स्टडीज इन बुद्धिज्म, सरस्वती लाइब्रेरी, कलकत्ता।
6. सिंह, डा. मदन मोहन, बुद्ध कालीन समाज और धर्म, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, बिहार, 1972।
7. रिजडेविड्स, टी. डब्ल्यू., बुद्धिष्ट इण्डिया, कलकत्ता, 1950।
8. शाक्य, राजेन्द्र प्रसाद, बौद्ध दर्शन, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 2001।
9. बुद्ध का जीवन: महाप्रजापति गौतमी-भिक्षुणियों का संघ (भाग-2)।
10. राव, विनय कुमार, बौद्ध कला में महिलाएँ, आगम कला प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012।
11. सिंह, डा. मदन मोहन, बुद्ध कालीन समाज और धर्म, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, बिहार, 1972।
12. लॉ, बिमलाचर्न, बौद्ध साहित्य में महिलाएँ, बैस्टियन एंड कम्पनी, सीलोन, 1927।
13. त्सोमो, कर्मा लेखे, प्रख्यात बौद्ध महिलाएँ, स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क प्रेस, अल्बानी, न्यूयार्क, 2015।
14. गुप्ता, राजेश चन्द्र, बौद्ध दर्शन का प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति पर प्रभाव, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2010।
15. वापट, पी. वी., बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, पब्लिकेशन डिवीजन, ओल्ड सेक्रेट्रिएट, दिल्ली, 1956।
16. थापर, रोमिला, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1988।



प्राचीन भारतीय नगरों का विकास

डॉ. रजनीकान्त राय*

प्राचीन काल में नगर निर्माण वास्तुकला का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता था। नगरों का निर्माण ऐसे स्थानों पर किया जाता था, जहाँ नागरिकों को हर प्रकार की सुविधायें उपलब्ध हों। शहरों को बनाने के पूर्व एक ऐसा भू-खण्ड देखा जाता था, जो या तो पहाड़ों पर हो या सामान्य सतह से कुछ ऊँचा हो।¹ इस कार्य के लिये नगर सन्निवेश या नगर-मापन शब्द 'दीर्घ निकाय' में दो बार प्रयुक्त हुआ है।² नगर मापन के लिये कतिपय अन्य शब्दों का भी प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है।

पालि साहित्य में नगर निर्माण सम्पन्न कराने वाले अधिकारी के लिये "वत्थविज्जाचरिय" (वास्तु विद्याचार्य) शब्द प्राप्त होता है।³ इनके कार्य में सहायता पहुँचाने के लिये "शिल्पि संघ" शब्द का प्रयोग हुआ है।⁴ इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि नाना शिल्पियों के समूह ने अयोध्या का पुनर्निर्माण किया था। पालि साहित्य में कस्बे के लिये नगर शब्द आया है, जैसे राजा विदेह की राजधानी मिथिला, जिनके राज्य में सोलह सहस्र ग्राम थे, नगर कहलाती थी, बहुत बड़े-बड़े शहर भी थे, जो महानगर कहलाते थे, जिसमें से बुद्ध के समय में छः प्रचलित थे।⁵

एक विशाल देश होने के कारण भारत के सभी भागों में नगरों की संवृद्धि समान रूप से नहीं हो सकती थी। प्राचीन काल में नगर वहीं विकसित हुये, जहाँ आसानी से आवागमन के साधन उपलब्ध थे, खनिज अयस्क प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते थे, जिससे हथियारों एवं औजारों के निर्माण में आसानी होती थी।⁶ प्रायः नदियों के किनारे नगरों के बसने का कारण पानी की सामान्य उपलब्धता एवं व्यापार एवं वाणिज्य के लिए आसानी से जल मार्गों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। इसका एक लाभ यह भी था कि स्थल मार्गों में जो आक्रामक दल व्यापारियों को लूट लेते थे, उनसे नदी मार्गों द्वारा सुरक्षा एवं कम खतरे की संभावनायें थीं। प्रायः जब एक राज्य दूसरे राज्यों पर आक्रमण करते थे तो उन्हें बड़ी सेनाओं को जल मार्गों के द्वारा ले जाना सुलभ था।

नगर निर्माण के सम्बन्ध में कौटिल्य के अर्थशास्त्र से यह बात ज्ञात होती है कि राजा को नगर निर्माण कहाँ कराना चाहिये, उनके अनुसार— राजा को चाहिये कि धनोत्पादन के मुख्य केन्द्र पर बड़े-बड़े स्थानीय नगरों का निर्माण करवायें। किसी नदी के संगम पर बड़े-बड़े तालाबों के किनारे या कमलयुक्त जलाशयों के तट पर भी नगर बसाये जा सकते हैं। नगर निर्माण चौकोर, लम्बा अथवा गोलाकार होना चाहिये, इसके चारों ओर छोटी-छोटी नहरों द्वारा पानी का प्रबन्ध अवश्य रहे एवं नगर में आने जाने के लिये जलमार्ग और स्थल मार्ग दोनों की सुविधा होनी चाहिये।⁷

काशी प्राचीन भारतीय नगरों में सबसे सम्पन्न तथा प्रसिद्ध था, यह नगर बारह योजन की दूरी में स्थित था, जो वरुणा एवं असी नदियों के बीच स्थित था, जो एक मुख्य नदी बन्दरगाह भी था।⁸ वाराणसी अथवा काशी नगर की प्रसिद्धि धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक तीनों प्रकार से थी जैसा कि हम जानते हैं, हर्यक वंश, मौर्य वंश, गुप्त वंश जैसे सभी प्रमुख राजवंशों ने काशी प्रान्त पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का पूर्ण प्रयत्न किया, जिससे इस नगर की उपयोगिता स्वरूप सिद्ध होती है।

विद्वानों एवं ग्रन्थों के अनुसार काशी नगर की तुलना आदर्श नगर राज्य कोशल से की गयी है, जिसकी राजधानी अयोध्या थी। अयोध्या नगर का वर्णन रामायण में प्राप्त होता है, ऐसा माना जाता है कि अयोध्या नगर को मनु ने बसाया था। बौद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' के अनुसार उसका निर्माण लगभग 5वीं शदी ई0पू0 में किया गया एवं इसके वास्तुकार महागोविन्द थे।⁹

अयोध्या नगर आयताकार (14 x 4 किमी 02) में चौड़ी समतल जगह पर बसा हुआ था। रामायण में अयोध्या नगर को बारह योजन लम्बी एवं तीन योजन चौड़ी बताया गया है। यह नगर सरयु नदी के तट पर बसाया गया एवं धनधान्य से परिपूर्ण था। कालान्तर में यहाँ पर इक्ष्वाकु वंशी, सूर्य वंशी एवं रघुवंशी क्षत्रियों द्वारा शासन किया गया। रामायण में वर्णित श्री राम की जन्मभूमि अयोध्या ही थी।

* सहायक प्राध्यापक, श्यामा प्रसाद मुखर्जी राजकीय महाविद्यालय, फाफाम0, प्रयागराज।

प्राचीन कालीन भारतीय नगरों में राजगृह, जो मगध की राजधानी थी, इन्द्रप्रस्थ जो कुरु राज्य की राजधानी थी। तक्षशिला, जो पश्चिमोत्तर भारत में अध्ययन का एक प्रमुख केन्द्र था, जो प्रायः तीन भागों में विभक्त था, जिन्हें सिरकप, सिरमुख एवं भीर के टीले के रूप में जाना जाता था। श्रावस्ती जो अचिरावती नदी के तट पर बसा हुआ था, पाटलिपुत्र जिसे मौर्यों द्वारा स्थापित किया गया, जिसका वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं मेगस्थनीज की इण्डिका में प्राप्त होता है। चम्पा जो अंग की राजधानी थी, कौशाम्बी जो वत्स राज्य की राजधानी थी। इन प्राचीन नगरों का भी प्राचीन काल में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था।

राजगृह नगर पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ था। राजगृह का पुराना नाम गिरिब्रज था। यह प्राचीन नगर 4.5 x 3 मील में फैला हुआ था।¹⁰ तक्षशिला के अवशेष आधुनिक रावलपिण्डी के उत्तर पश्चिम में लगभग बीस मील की दूरी पर स्थित भीर टीला है, जिसकी पुष्टि उत्खनन के साक्ष्यों से भी हुयी है।¹¹ कुरु राज्य की राजधानी इन्द्रप्रस्थ सात योजन में थी एवं कुरु राज्य तीन सौ योजन की दूरी में विस्तृत था। कालान्तर में यहां पर ऐतिहासिक कौरव एवं पाण्डव वंश का शासन हुआ, जिनके मध्य प्रसिद्ध 'कुरुक्षेत्र' का युद्ध लड़ा गया, जिसका उल्लेख हमें महाभारत नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है। श्रावस्ती अचिरावती नदी के तट पर बसा हुआ था। 'महापरिनिब्वान सुत' में इसकी गणना तत्कालीन सुप्रसिद्ध नगरों में की गयी है।¹²

प्राचीन कालीन विश्व के अन्य देशों की भांति भारत में भी नगर निर्माण के लिये ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र और प्राचीन पौराणिक आख्यानों का सहारा लिया जाता था। नगर निर्माण के लिये कुछ प्रमुख अनुष्ठानों को सम्पन्न किया जाना आवश्यक माना जाता था, जिससे भवन निर्माण, नगर निर्माण को महत्वपूर्ण सामाजिक अवयव के रूप में देखा जा सकता है। प्राचीन भारत में नगर निर्माता प्रायः ब्राह्मण ही होते थे। उनको समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त था।¹³ वास्तुकारों के द्वारा जो बस्तियों का दिशा विन्यास किया जाता था, उसमें भारत की पछुआ पवनों को हमेशा ध्यान में रखा जाता था और जल का स्रोत नगर के पश्चिम में रखने के लिये कहा जाता था, जिससे पश्चिम से बहने वाली वायु ठण्डी एवं आर्द्र रहे।¹⁴

हवाओं के रुख के आधार पर ही राज प्रासादों का निर्माण किया जाता था। नगरों के सात प्रामाणिक आकार माने गये हैं (i) समानान्तर चतुर्भुजाकार (ii) वृत्ताकार (iii) वर्गाकार (iv) आयताकार (v) अर्धचन्द्राकार (vi) सर्पाकार एवं (vii) त्रिभुजाकार मत्स्य पुराण में वर्गाकार नगर शुभ माना गया है।¹⁵ मत्स्य पुराण में आयताकार नगर को नागरिकों के लिये मंगलदायक माना गया है, वृत्ताकार नगर इस ग्रन्थ के अनुसार श्रेष्ठ आकार है।¹⁶ ह्वेनसांग के यात्रा वृत्तान्त से पता चलता है कि उसके आगमन के समय भारत में चौकोर नगर प्रमुखतया विद्यमान थे।¹⁷ प्राचीन नगर कभी-कभी समानान्तर चतुर्भुज के आकार के भी हुआ करते थे। इसकी सूचना मेगस्थनीज के यात्रा विवरण से प्राप्त होती है कि पाटलिपुत्र का आकार समानान्तर चतुर्भुज था।¹⁸ "कुछ अर्द्धचन्द्राकार नगरों का उल्लेख भी प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त होता है। मत्स्य पुराण में इस प्रकार के नगरों की बहुत प्रशंसा की गयी है, इसमें कहा गया है कि जो नगर नदी के तट पर स्थित होते हैं तथा जिनका आकार अर्द्धचन्द्र के समान है, वह सब प्रकार से श्रेष्ठ है।"¹⁹

नगर स्थापना का सबसे प्राथमिक उपाय सुरक्षा से सम्बन्धित था, जिन्हें प्राप्त करने के दो साधन थे। प्रथम प्राकृतिक एवं द्वितीय कृत्रिम। प्राकृतिक रूप में नदी, जल, पर्वत, प्रस्तर समूह, मरुभूमि तथा अरण्य सुरक्षा के प्रमुख साधन थे और द्वितीय साधन के रूप में गड्डों का निर्माण, परिखा का निर्माण, बाड़े का निर्माण, प्राचीर का निर्माण आदि थे, जो प्राकृतिक एवं कृत्रिम रूप से नगर की प्राथमिक सुरक्षा के कारक थे। उदाहरणार्थ— मथुरा नगर यमुना किनारे तथा द्वारका को समुद्र तट के किनारे स्थापित किया गया था। गिरिब्रज पर्वतों के द्वारा रक्षित था। महाभारत के अनुसार यह नगर वैराह, वाराह, वृषभ, ऋषिगिरि तथा चौत्य नामक पाँच महाशृंगों के द्वारा स्थापित किया गया था।²⁰ इसके अतिरिक्त कृत्रिम सुरक्षा के अन्तर्गत दो प्रमुख नगरों कौशाम्बी एवं पाटलिपुत्र का विवरण प्राप्त होता जो नदियों के किनारे स्थित होने के अतिरिक्त प्राचीरों एवं परिखा के माध्यम से सुरक्षित की गयी थीं।²¹

सर्वप्रथम नगर निर्माण में परिखा का निर्माण किया जाता था। परिखा के बनाने के पूर्व जितनी भूमि में इसे बनाना होता था, उस पर चिन्ह लगा दिया जाता था, जिसे श्पारिखेय भूमि कहा जाता था।²² परिखा की संख्या एक से अधिक भी हो सकती थी। पाटलिपुत्र, अयोध्या एवं वाराणसी नगर के चारों ओर एक परिखा थी। श्रावस्ती एवं मिथिला नगर के परिखाओं की संख्या तीन थी।²³ चम्पा नगर खाइयों से घिरा हुआ था, इसके अतिरिक्त बसाढ़, कौशाम्बी, श्रावस्ती एवं राजगृह नगर के चारों तरफ भी खाइयाँ थीं। सामान्यतः अधिक

दृढ़ता लाने के लिये परिखा के भीतर ईंटों की चुनाई की जाती थी। अर्थशास्त्र के अनुसार परिखा के निचले भाग तथा उसकी दीवारों में ईंटों की चुनाई की जाये अथवा पाषाण खण्ड लगाये जाने चाहिये।²⁴

अर्थशास्त्र में परिखा के परिमाण का उल्लेख मिलता है, इसके अनुसार नगर के चारों ओर चार हाथ की दूरी पर तीन खाइयाँ खुदवानी चाहिये, वे खाइयाँ क्रमशः चौदह, बारह, और दस दंड चौड़ी होनी चाहिये। जितनी वे चौड़ी हो उससे चौथाई अथवा आधी गहरी होनी चाहिये अथवा चौड़ाई का तीसरा हिस्सा भी गहरी हो सकती है।²⁵ इसके अतिरिक्त मेगस्थनीज की इण्डिका से ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र भारत का सबसे बड़ा शहर था, इसके चारों तरफ लकड़ी की एक प्राचीर बनी हुयी थी, जिनमें सैकड़ों प्रेक्षण-बुर्ज से युक्त 64 द्वार बने हुये थे, खुदाई में 35 मीटर से भी ज्यादा मोटे — प्राचीर के अवशेष मिले हैं उसे भूमि से एक-एक मीटर की गहराई तक गाड़े गये सागौन के शहतीरों को बाड़ की तरह खड़ा करके बनाया गया था।²⁶

बाड़ों में प्राकारों का निर्माण किया जाता था, जिन्हें अट्टालक कहा गया है, ये नगर-प्रकार की चारों दिशाओं में विद्यमान होते थे। इन प्राकारों में बुर्जों का निर्माण किया जाता था। पाटलिपुत्र नगर के प्राकार में 510 बुर्ज थे एवं 64 द्वार विद्यमान थे, इसके अतिरिक्त प्राकार में चार प्रधान द्वारों के अतिरिक्त गौण द्वार भी होते थे।²⁷ बुर्ज की चोटी पर सैनिक नियुक्त किये जाते थे। जब दुर्ग पर शत्रु आक्रमण करते थे उस समय उनका संहार इन सैनिकों का प्रधान कर्तव्य था। ये चौकसी बुर्ज ईंट और पत्थर के बने होते थे।

प्राचीन काल में राजमार्ग यातायात के मुख्य साधन थे। ये मार्ग सभी कालों में सभी प्रकार की बस्तियों के बीच संचार और संपर्क का महत्वपूर्ण साधन थे। उनसे सेनायें एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाती थीं, तीर्थयात्री सुदूर तीर्थों की यात्रायें सम्पन्न करते थे एवं व्यापारी दूर-दूर तक व्यापार के लिये जाते थे। राजधानी नगरों में मुख्य मार्ग राजपथ कहलाता था, सामान्यतः यह पूर्व से पश्चिम की ओर राजनिवास से होकर गुजरता था। मौर्य एवं मौर्योत्तर काल में भारत और पश्चिमी विश्व के बीच व्यापार की गति तेज हो गयी थी।

दक्षिण भारत की ओर स्थल मार्गों का विकास मौर्यों के बाद में हुआ। राजमार्ग उस समय काफी विस्तृत और दूरस्थ स्थानों तक जाते थे। एक राजमार्ग मध्य गंगा के मैदान की ऊपरी गोदावरी घाटी से जोड़ता था और दूसरा राजमार्ग मध्य गंगा के मैदान को दक्षिणी-पश्चिमी समुद्र तट से। एक राजमार्ग पूर्वी भागों से होता हुआ गंगा की निम्न घाटी की ओर चला जाता था। दूसरा भृगुकच्छ होकर जाता था।" इस प्रकार प्राचीन काल में कई राजपथों का निर्माण हुआ, जिनका उत्तरोत्तर विकास होता गया।

प्राचीन भारत में सड़कों पर यात्रियों के आराम के लिये धर्मशालायें होती थीं। बस्ती का निर्माण सड़कों एवं मार्गों के निर्माण के साथ आरम्भ किया जाता था। नगर की आकृति और योजना मार्गों के विन्यास — पद विन्यास पर निर्भर होती थी। मार्ग बस्ती के संरचनात्मक आधार का कार्य करते थे। मुख्य मार्ग ही आगे चलकर बस्तियों की मुख्य सड़कों में परिणत हो जाते थे। बस्ती के भीतर रथों, गाड़ियों के लिये प्रयुक्त छोटी सड़क की चौड़ाई कम से कम 1.8 होती थी। बड़ी सड़क से अनेक सड़कें अलग-अलग स्थान पर आकर मिलती थी।²⁹

इसके अतिरिक्त नगर की सुन्दरता को बढ़ाने के लिये जगह-जगह पर उद्यानों एवं सरोवरों का निर्माण किया जाता था। अयोध्या नगर में छोटे-छोटे जल स्रोतों को जिनका पानी सब ओर बह जाया करता था, मजदूरों के द्वारा चारों ओर से बांधकर अधिक जल वाला बनाया गया था। इसी प्रकार यूनानियों ने तक्षशिला नगर की सुन्दरता का वर्णन करते हुये कहा है कि इस नगर के सौन्दर्य की वृद्धि एक बगीचा द्वारा होती थी, जो काफी लम्बाई-चौड़ा था तथा चारों तरफ एक दीवार से सुरक्षित था। रामायण में चर्चा मिलती है कि साकेत अयोध्या नगरी के चारों ओर उद्यान तथा आम के बगीचे थे, लम्बाई एवं चौड़ाई की दृष्टि से वह पूरा विशाल थी तथा सागवान के वन उसे सब ओर से घेरे थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में जो भी नगर बनाये गये उनका आधार वैज्ञानिक था, जो सुरक्षा, व्यापार, सुन्दरता एवं सामाजिक जीवन के उच्चतम मानकों को पूरा करते थे, जिनके निर्माण में राजा एवं राज्य की मुख्य भूमिका रहती थी एवं राजा द्वारा नियुक्त अधिकारियों की देख-रेख में इनका निर्माण होता था, जिसमें परिखा, बाड़ा, बुर्ज, अट्टालिका, सड़कें, गलियाँ, उद्यान, सरोवर, राजपथ एवं व्यापारिक मार्गों का उचित मापन के आधार पर निर्माण किया गया था।

सन्दर्भः

1. बोस ए. एन., सोशल एण्ड रूरल एकोनामी आफ नादर्न इण्डिया, पृ0 200, सेकेण्ड एडीशन, फर्मा के.एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1961
2. दीघनिकाय, सम्पादित डेविड्स टी. डब्ल्यू रिज एण्ड स्टालिन जे कारपेन्टर 2.16, 1.16 लंदन आक्सफोर्ड 1890—91
3. जातक, 1, 297 उद्धृत— राय, उदय नारायण, प्राचीन भारत में नगर तथा नगरी जीवन, पृ0 231, प्रथम संस्करण, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद
4. रघुवंश, पण्डित शंकर, 16.38 गर्वनमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, 1897
5. जातक 3, 365 उद्धृत— मुकर्जी, राधा कुमुद, हिन्दू सभ्यता, पृ0 305, चतुर्थ संस्करण, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली
6. कोरोत्सकाय, अ, भारत के नगर, पृ0 59, पी.पी.एच., दिल्ली, 1987
7. अर्थशास्त्र, कौटिल्य 13.3.2
8. राजोवाद जातक।
9. कोरोत्सकाय, अ, पृ0 86
10. बोस. ए. एन., भाग—1, पृ0 204
11. मार्शल, जान, ए गाइड टू तक्षशिला, दिल्ली, 1936, पृ0 3
12. दीघ निकाय 2.226, डेविड. टी. डब्ल्यू. रिज एण्ड कारपेन्टर जे. स्टाविन, लन्दन, 1890—91
13. कोरोत्सकाय, अ, पृ0 69
14. वही, पृ0 77
15. मत्स्य पुराण, अध्याय 217, पंक्ति 24, अनुवाद आप्टे, हरिनारायण
16. वही, पृ0 217
17. राय, उदय नारायण, वाटर्स, पृ0 252
18. मैक्रिण्डल, जे0 डब्ल्यू. एन्शिएन्ट इण्डिया ऐज डिसक्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, पृ0 68, 1977
19. मत्स्य पुराण, वही, अध्याय 217
20. महाभारत, सभा पर्व 21.2
21. मैक्रिण्डलज, वही, खण्ड 26, पृ0 64
22. अष्टाध्यायी, बसु सतीश चन्द (अनुवाद), 3.1.17
23. महाउगग जातक
24. अर्थशास्त्र, 5.1, पृ0 57 (अनुदित शास्त्री)
25. अर्थशास्त्र, वही, 19.3.2
26. कोरोत्स काया अ, पृ0 631
27. मैक्रिण्डल (पूर्वोक्त), पृ0 661
28. महाभारत, 3.61, 21, 231
29. कोरोत्सकाया अ, पृ0 781
30. रामायण, अयोध्याकाण्ड—सर्ग—2
31. बोस, ए0एन0, पूर्वोक्त, पृ0 210

श्रीमद्भागवतपुराण में वर्णित भक्ति

डॉ. अनुराग मिश्र*

ऋग्वेदादि परमेश्वर के श्वास-प्रश्वास से निःसृत है, श्रीमद्भगवद्गीता परमेश्वर की वाणी है और श्रीमद्भागवतपुराण परमेश्वर का साक्षात् शब्दमय विग्रह। इसमें भक्तिरस की दिव्य मन्दाकिनी सतत् प्रवहमान है। इस भक्ति धारा को आरम्भ में ही “भागवत-रस” से अभिहित किया गया है। मनीषियों ने जहां एक ओर “विद्यावतां भागवते परीक्षा” कहकर श्रीमद्भागवत को विद्वज्जनसंवेद्य निरूपित किया है वहीं दूसरी ओर “भक्त्या भागवतं ग्राह्यम्” कहकर उसके वास्तविक हार्दरस को भक्तजनैकगम्य ही प्रतिपादित किया है।¹ भक्ति शब्द की निष्पत्ति भज् सेवायाम् धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से होती है। तात्पर्य यह है कि सेवा-भावना ही भक्ति है। यह सेवा की भावना नानाविध हो सकती है। परन्तु जिसमें किसी भी प्रकार की भक्ति है उसे “भक्त” कहते हैं। शास्त्रों में भक्त और भक्ति के अनेक भेदोपभेद की चर्चा की गयी है किसी भी मनोरथ की प्राप्ति भक्ति के बिना असम्भव है यहां तक कि भगवत्प्राप्ति जैसा परमकल्याणकारक विषय की सिद्धि भी भक्ति के बिना नहीं हो सकती है। भगवान् में चित्त का स्थिर हो जाना भक्ति कहा जाता है। भक्ति का लक्षण करते हुए आचार्य रामानुज ने कहा है—स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्ति रित्युच्यते बुधैः। आचार्य शंकर ने देवादिविषयिणी भक्ति का विवेचन करते हुए स्वरूपानुसंधान को भक्ति कहा है।

“स्वस्वरूपानुसंधानं भक्ति रित्यभिधीयते”²

श्रीमद्भागवतपुराण में भक्ति को बताते हुए कहा गया है—कि

“मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविचित्रा यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।
लक्षणं भक्ति योगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।”³

तात्पर्य यह है कि श्रीमद्भागवद्गुण-श्रवण के द्वारा द्रवीभूत मन की गति का अविच्छिन्न रूप से परमेश्वर में रत हो जाना ही भक्ति है। अनन्य एवं निष्काम प्रेम सहित भगवान् का निरन्तर चिन्तन ही निर्गुण भक्ति का स्वरूप है। यही भक्ति योग कहा जाता है। जिससे जीव त्रिगुणात्मिका माया को पारकर मद्भाव को प्राप्त हो जाता है।⁴

श्रीमद्भागवत में निष्काम भाव से स्वभाव की प्रवृत्ति का सत्य में, मूर्त, भगवान् में लय हो जाना ही भक्ति है।⁵ भगवान् के प्रति यह स्वाभाविक चित्तवृत्ति है जिस प्रकार लौह स्वाभाविक रूप से चुम्बक की ओर आकृष्ट हो जाता है।⁶ भगवान् में आसक्त चित्तवृत्ति अहैतुकी और अप्रतिहता होती है।

स वै पुसां परो धर्मो यतो भक्ति रधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति।”⁷

भगवत्साक्षात्कार के पश्चात आत्मस्वरूप के दर्शन होते ही हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सन्देह मिट जाते हैं और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
श्रीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे।”⁸

* सहायक आचार्य, जी०एस०एस० पी०जी० कालेज, कोयलसा, आजमगढ़।

Email : anuragmishra1712190@gmail.com

¹ श्रीमद्भागवत पुराण में भक्ति रस का शास्त्रीय निरूपण (प्रास्ताविक) कृष्णकान्त जोशी

² विवेकचूडामणि श्लोक 32

³ श्रीमद्भागवत 3.29.11-12

⁴ स एवं भक्ति योगाख्य आत्यनिक उदाहृतः ।।मेनातिवज्य त्रिगुण महामायोपपद्यते।। श्रीमद्भागवतपुराण 3.29.14

⁵ श्रीमद्भागवतपुराण 3.25.32-33

⁶ श्रीमद्भागवतपुराण 7.514

⁷ श्रीमद्भागवतपुराण 1.26

ऐसा होने के पश्चात् ज्ञाता-ज्ञेय, निर्गुण सगुण, विषय-अविषय का भेद समाप्त हो जाता है और यही अखण्ड, अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्म, परमेश्वर इत्यादि नाम से जाना जाता है।⁹ यह भक्ति प्रधानतः दास्य, सख्य, मधुरादि रसों से युक्त होकर चार प्रकार की होती है—सामान्य भक्ति, साधन भक्ति, भाव भक्ति और प्रेम भक्ति। श्रीमद्भागवतपुराण में भक्ति की जो विवेचना की गई है वह “नवधा सिद्धान्त” या “भागवत मत” के रूप में जाना जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि “जिस प्रकार गंगा का जल समुद्र में मिलकर तिरोभूत हो जाता उसी प्रकार मुझमें मन की गति को जब मेरे गुण-श्रवण मात्र से लगाया जाता है, जो अकारण ही निर्वाध रूप से हाती है वह भक्ति योग में निर्गुण भक्ति का लक्षण है। भक्ति के द्वारा सालोक्य, सृष्टियुक्त, सामीप्य और सारूप्य के रूप में जो मुक्ति होती है, वह मेरी सेवा के बिना लोग प्राप्त नहीं कर सकते। यही आत्यन्तिक भक्ति योग है जिसके माध्यम से भक्त जन त्रिगुणों का परित्याग करके मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।”¹⁰

हरि को भजने तथा परम गन्तव्य की प्राप्ति हेतु ही श्रीमद्भागवत में नवधा भक्ति की विवेचना की गई है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, पूजा, वन्दन, दास्यभाव, सख्यभाव, एवं समर्पण।¹¹ तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम भगवान् की कथा

श्रवण करना, उसका कीर्तन करना, स्मरण करना, और उनके चरणों की सेवा करना, पूजा करना, वन्दन करना, ईश्वर की दासता स्वीकार करना, ईश्वर को ही सखा मानना और अपना सब कुछ परमेश्वर को ही समर्पित कर देना ये नौ भक्ति यां कही गयी है। श्रीमद्भागवत भक्ति दर्शन का एक सुव्यवस्थित शास्त्रीय ग्रन्थ है। भागवत्कार के मत में ज्ञान और भक्ति में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भक्ति की पराकाष्ठा है ज्ञान और ज्ञान का चरम है भक्ति। जहां भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठरूप में वर्णित है वहां भक्ति का अर्थ है साधन भक्ति तथा जहां ज्ञान, भक्ति से श्रेष्ठ व्याख्यायित है वहां ज्ञान का अर्थ है परोक्षज्ञान। पराभक्ति और परमज्ञान दोनों एक ही वस्तु है। जब मन की रागात्मिका वृत्ति को प्रधान माना गया तभी भावगतधर्म की प्रतिष्ठा हुई। कृष्ण, नारायण, वासुदेव आदि विभिन्न स्वरूप उस ब्रह्म के हुए उसी परमब्रह्म की प्रतिष्ठा श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के रूप में हुई। नवधा भक्ति के माध्यम से भक्ति को सर्वसाधारण के लिए हस्तामलकवत् सुलभ बना दिया गया। यह नवधा भक्ति का माधुर्यभाव ही परवर्ती भक्ति—सम्प्रदायों का मेरुदण्ड अथवा आधार बना। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण की लीलाओं का भौतिक और आध्यात्मिक स्वरूप तो व्यक्त हुआ ही है साथ ही साथ अद्भुत माधुर्य का मेल और लौकिक कालुष्य से विरक्ति के कारण वह अमृतरस के तुल्य कहा गया है।¹² श्रीमद्भागवत में भगवत्प्राप्त्यर्थ योग, जप, तप, स्वाध्याय आदि से सर्वश्रेष्ठ भक्ति को निरूपित किया गया है।¹³ अन्तःकरण की पूर्णरूपेण पवित्रता भगवद्भक्ति से ही साध्य है एवं अन्तःकरण की शुद्धता भक्ति द्वारा ही प्राप्य है। अतः श्रीमद्भागवत में भक्ति योग के द्वारा कर्मवासना से मुक्त

⁸ श्रीमद्भागवतपुराण 1.2.21

⁹ वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥

¹⁰ मदगुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्ति योगस्य निर्गुणस्य ह्ययुदाहृतम् ॥
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति : पुरुषोत्तमे ॥
सालोक्यसाप्तिसामीप्यसारूप्येकत्वमप्युत ।
दीपमान न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मदभावयोपपद्यते ॥

¹¹ श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

¹² निगमकल्पतरोगलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

¹³ श्रीमद्भागवतपुराण, 11.14, 20-21

होने की बात कही गयी है। विशुद्धात्मा पुरुष ही भगवद्भयान-कथा-श्रवण में निरत होकर उस परम सूक्ष्म वस्तु का भी साक्षात्कार कर लेता है, यही परम ज्ञान है, यही चरम ज्ञान है,

यही चरम भक्ति है।¹⁴ परम सत्ता ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् इन त्रिविध नामों से जानी जाती है। यह ब्रह्मननुभव एवं परमात्मा दर्शन दोनों ही भगवत्तत्त्व के खण्ड या अंश बोध मात्र है।

भक्ति जीव को रसमय बना देती है। विशुद्ध भक्ति प्रभु की अनन्य शरण होने से ही प्राप्त होती है।¹⁵ श्रीमद्भागवत् में आध्यात्मिक जीवन दर्शन को वह विज्ञान और कला बताया गया है जो वेदान्त के निर्गुण तथा सगुण रूप की भक्ति के अनुकूल है। ब्रह्मज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। “तत्त्वमसि” ‘अहं ब्रह्मास्मि’, ‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म’, ‘जीवो ब्रह्मैव नापरः’ इस प्रकार जीव और ब्रह्म की एकता का ज्ञान होने पर ही मोक्ष सम्भव है। ज्ञान ही मोक्ष का एकमात्र कारण है। आचार्य शंकर कहते हैं कि—

“कुरुते गंगासागरगमनम् ब्रह्मपरिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञानविहीने सर्वमतेन न भवति मुक्तिर्जन्मशतेन ।

(चर्पटपंजरी, श्लोक 17)

ज्ञान प्राप्त करने के लिए सुपात्र, साधक, ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मलीन, सद्गुरु के पास जाकर उनके द्वारा निर्दिष्ट साधनों का पालन करते ब्रह्मसत्ता का अनुभव करता है। वही सद्गुरु श्रीमद्भागवतपुराण है। जो मनुष्य के समस्त क्लेशों को दूर कर ब्रह्मज्ञान के पथ पर प्रेरित करता है। “श्रेयः स्तुतिं भक्तिं मुदस्य ते विभो”

क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये ।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,

नान्यद् यथा स्थूल तुषावघातिनाम् ।।¹⁶

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि—

“यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः”

तात्पर्य यह है कि जब भक्ति का उदय हो जाता है तब समस्त कामनाओं का अन्त हो जाता है एवं समस्त प्रपंच असत् प्रतीत होने लगता है। भक्त सम्पूर्ण रूप से स्वयं को परमेश्वर को समर्पित कर देता है। सब प्रकार से निरपेक्ष होने के कारण षड्दोषों (काम, क्रोध लोभ, मोह, मद और मात्सर्य) का उसके हृदय में उद्भव ही नहीं होता।

अन्य समस्त विषयसुख उस अनिर्वचनीय सुख के सम्मुख तुच्छ हो जाते हैं। यही परमानन्द की स्थिति है।



¹⁴ वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्भ्यम् । ब्रह्मोति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ।। (श्रीमद्भागवत 12.11)

¹⁵ पिबन्ति ये भगवत् आत्मनः सतां

कचामृतं श्रवणपुटेषु सम्मृतम् ।।

पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं ।

ब्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम् ।।

(श्रीमद्भागवत 22.37)

¹⁶ श्रीमद्भागवत 70.144

महात्मा विदूर के राजनीतिक विचारों की वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता

रामचरण प्रजापति*

डॉ. भावना यादव**

सारांश

महाभारत के एक मुख्य पात्र महात्मा विदूर को भारतीय बौद्धिक इतिहास में सबसे प्रारंभिक राजनीतिक विचारकों और नैतिक राजनेताओं में से एक माना जाता है। उनके विचार, जिन्हें सामूहिक रूप से विदूर नीति के नाम से जाना जाता है, शासन, न्याय, नेतृत्व, कूटनीति, जन कल्याण और राजनीति में नैतिक आचरण के बारे में गहरी समझ प्रदान करते हैं। हालांकि ये विचार एक प्राचीन सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ में व्यक्त किए गए थे, विदूर के राजनीतिक दर्शन में आज भी बहुत प्रासंगिकता है। राजनीतिक भ्रष्टाचार, नैतिक मूल्यों में गिरावट, शासन संकट और संस्थानों में जनता के घटते विश्वास वाले इस युग में, विदूर का धर्म-आधारित शासन, जवाबदेही, न्याय, शक्ति पर नियंत्रण और लोगों के कल्याण पर जोर मूल्यवान मार्गदर्शन प्रदान करता है। यह शोध पत्र विदूर के राजनीतिक विचारों की आलोचनात्मक जांच करता है और वर्तमान लोकतांत्रिक, प्रशासनिक और वैश्विक राजनीतिक संदर्भ में उनकी प्रासंगिकता का मूल्यांकन करता है।

कीवर्ड— विदूर नीति, राजनीतिक नैतिकता, सुशासन, धर्म, नेतृत्व और भारतीय राजनीतिक चिंतन।

1. परिचय

भारतीय राजनीतिक चिंतन ने शक्ति और नैतिकता के बीच अटूट संबंध पर लगातार जोर दिया है, शासन को केवल अधिकार के प्रयोग के रूप में नहीं, बल्कि न्याय, सामाजिक सद्भाव और सामूहिक कल्याण सुनिश्चित करने के उद्देश्य से एक पवित्र विश्वास के रूप में देखा है। इस स्थायी परंपरा में, महात्मा विदूर एक अद्वितीय राजनीतिक विचारक के रूप में सामने आते हैं, जिनका प्रभाव जबरदस्ती की शक्ति के बजाय नैतिक ज्ञान से उत्पन्न हुआ था। हस्तिनापुर के महामंत्री के रूप में, विदूर ने एक आदर्श राजनेता—सलाहकार का प्रतिनिधित्व किया, जो व्यक्तिगत लाभ या वंशवादी निष्ठा से ऊपर धर्म (धार्मिकता), सत्य और सार्वजनिक हित को प्राथमिकता देते थे। उनकी शिक्षाएँ, जिन्हें सामूहिक रूप से विदूर नीति के नाम से जाना जाता है, नैतिक शासन के लिए एक व्यापक ढाँचा प्रदान करती हैं, जिसमें शासकों के नैतिक कर्तव्यों, जिम्मेदार प्रशासन, बिना पक्षपात के न्याय, शक्ति पर नियंत्रण और निर्णय लेने में परामर्श की आवश्यकता जैसे मुद्दों को संबोधित किया गया है। उन शासकों के विपरीत जो बल या भय पर निर्भर थे, विदूर ने नैतिक अधिकार का प्रयोग किया, यह दिखाते हुए कि नैतिक अनुनय राजनीतिक नेतृत्व का एक शक्तिशाली साधन हो सकता है। उनकी सलाह ने बार-बार लालच, अहंकार, अन्याय और जल्दबाजी में निर्णय लेने के खिलाफ चेतावनी दी — ये ऐसे दुर्गुण थे जिनके कारण अंततः कौरव शासन का पतन हुआ — इस प्रकार इस शाश्वत सिद्धांत को रेखांकित किया कि नैतिक जिम्मेदारी से अलग राजनीतिक शक्ति अनिवार्य रूप से अस्थिरता और सामाजिक विघटन की ओर ले जाती है।¹

वर्तमान संदर्भ में, जहाँ राजनीति अक्सर चुनावी लोकलुभावनवाद, संस्थागत क्षरण, भ्रष्टाचार और घटते सार्वजनिक विश्वास से हावी रहती है, वहीं विदूर के राजनीतिक विचारों को नई प्रासंगिकता और तात्कालिकता मिलती है। आधुनिक लोकतांत्रिक प्रणालियाँ, अपने संवैधानिक ढाँचे के बावजूद, शासन में नैतिक मानकों को बनाए रखने के लिए अक्सर संघर्ष करती हैं, क्योंकि नेता नैतिक जवाबदेही और सार्वजनिक कल्याण पर राजनीतिक अस्तित्व, वैचारिक ध्रुवीकरण या आर्थिक हितों को प्राथमिकता देते हैं। नैतिक नेतृत्व, पारदर्शी प्रशासन और न्याय की प्रधानता पर विदूर का जोर संवैधानिक नैतिकता, कानून के शासन और सुशासन जैसी समकालीन अवधारणाओं के साथ दृढ़ता से मेल खाता है। संवाद, शांतिपूर्ण संघर्ष समाधान और

* सहायक प्राध्यापक, राजनीतिक विज्ञान, पी0एम0सीवओ0ई0 शासकीय महाविद्यालय, मकरोनिया बुजुर्ग, सागर, मध्यप्रदेश-470004

** सह प्राध्यापक, राजनीतिक विज्ञान, ओ0एस0डी0 उच्च शिक्षा, सागर संभाग, सागर

¹ Ganguli, K. M. (trans.), The Mahabharata, Udyoga Parva, Munshiram Manoharlal, Delhi.

राजनयिक संयम पर उनका जोर राजनीतिक हिंसा, अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों और सामाजिक विखंडन जैसी आधुनिक चुनौतियों से निपटने के लिए मूल्यवान अंतर्दृष्टि प्रदान करता है। इसके अलावा, प्रणाली के भीतर से ही सत्ता की आलोचना करने की विदुर की इच्छा लोकतांत्रिक मूल्यों को संरक्षित करने में नैतिक असहमति और संस्थागत जाँच के महत्व को उजागर करती है। इस प्रकार, उनका राजनीतिक दर्शन न केवल शक्ति की नैतिक आलोचना के रूप में कार्य करता है, बल्कि नैतिक अनिश्चितता और राजनीतिक उथल-पुथल से चिह्नित युग में नेतृत्व और शासन की पुनर्कल्पना के लिए एक रचनात्मक मार्गदर्शक के रूप में भी कार्य करता है।²

2. विदुर के राजनीतिक विचारों के स्रोत और प्रकृति

विदुर के राजनीतिक विचार मुख्य रूप से महाभारत के उद्योग पर्व में व्यक्त किए गए हैं, विशेष रूप से विदुर नीति नामक प्रसिद्ध खंड में। इस ग्रंथ में विदुर द्वारा राजा धृतराष्ट्र को एक महत्वपूर्ण मोड़ पर दिए गए नैतिक, राजनीतिक और प्रशासनिक निर्देशों की एक श्रृंखला शामिल है, जब कौरवों और पांडवों के बीच युद्ध की संभावना बहुत अधिक थी। विदुर की सलाह का उद्देश्य न केवल युद्ध को रोकना था, बल्कि राज्य के भीतर नैतिक शासन, न्याय और सामाजिक सद्भाव को बहाल करना भी था। शाही घोषणाओं या कानूनी संहिताओं के विपरीत, विदुर नीति एक संवादात्मक और सलाहकारी रूप अपनाती है, जो एक कर्तव्यनिष्ठ राजनेता की भूमिका को दर्शाती है जो सत्ता के सामने सच बोलता है।

विदुर के राजनीतिक विचारों की प्रकृति कई मायनों में अलग है। पहला, यह शक्ति-केंद्रित होने के बजाय नैतिक है, जो जबरदस्ती के अधिकार पर नैतिक जिम्मेदारी पर जोर देता है। दूसरा, यह राज्य-केंद्रित होने के बजाय मानव-केंद्रित है, जो शक्ति के विस्तार के बजाय लोगों के कल्याण पर ध्यान केंद्रित करता है। तीसरा, यह काल्पनिक होने के बजाय व्यावहारिक है, जो मानव स्वभाव, राजनीतिक महत्वाकांक्षा और सामाजिक संघर्ष के यथार्थवादी आकलन पर आधारित है। अंत में, यह गहराई से धर्म-उन्मुख है, जहाँ राजनीतिक कार्रवाई नैतिक कर्तव्य और न्याय से अविभाज्य है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के विपरीत, जो यथार्थवाद, रणनीतिक हेरफेर और राज्य के हित को प्राथमिकता देता है, विदुर का दर्शन राजनीतिक व्यावहारिकता और नैतिक संयम के बीच संतुलन चाहता है। यह संश्लेषण विदुर के विचारों को आधुनिक लोकतांत्रिक प्रणालियों के लिए विशेष रूप से प्रासंगिक बनाता है जो प्रभावी शासन को नैतिक वैधता के साथ जोड़ने की आकांक्षा रखते हैं।³

3. धर्म और नैतिक राजनीति की अवधारणा

विदुर के राजनीतिक दर्शन के केंद्र में धर्म की अवधारणा है, जिसे वे केवल धार्मिक अनुष्ठान के रूप में नहीं, बल्कि एक व्यापक नैतिक सिद्धांत के रूप में व्याख्यायित करते हैं, जिसमें न्याय, सत्य, करुणा और सार्वजनिक कल्याण शामिल हैं। विदुर के लिए, धर्म वह नैतिक आधार है जिस पर राजनीतिक सत्ता टिकी होती है। वे बार-बार चेतावनी देते हैं कि जब शासक शक्ति, धन या व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के लिए धर्म को छोड़ देते हैं, तो राज्य अनिवार्य रूप से अव्यवस्था, अन्याय और अंततः विनाश की ओर चला जाता है। उनका यह कथन कि “न्याय के बिना राज्य आत्मा के बिना शरीर के समान है” नैतिकता और शासन की अविभाज्यता को रेखांकित करता है।

समकालीन संदर्भ में, विदुर की धर्म की अवधारणा संवैधानिक नैतिकता, कानून के शासन और नैतिक शासन जैसे विचारों के साथ निकटता से मेल खाती है। आधुनिक लोकतंत्र कार्यकारी शक्ति के दुरुपयोग, संस्थागत स्वायत्तता के क्षरण और राजनीतिक नेतृत्व में सार्वजनिक विश्वास में गिरावट जैसी चुनौतियों से जूझ रहे हैं। विदुर का यह आग्रह कि सत्ता नैतिक रूप से उचित होनी चाहिए, इन संकटों को दूर करने के लिए एक शक्तिशाली ढांचा प्रदान करता है। उनकी धर्म-आधारित राजनीति इस विचार को पुष्ट करती है कि नैतिकता के बिना वैधता अपर्याप्त है और नैतिक जिम्मेदारी राजनीतिक वैधता के लिए केंद्रीय है। इस प्रकार, विदुर का विचार वर्तमान युग में लोकतांत्रिक जवाबदेही और नैतिक राजकाज के लिए एक मानक आधार प्रदान करता है।⁴

² Altekar, A. S., *State and Government in Ancient India*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1958.

³ Kane, P. V. *History of Dharmashastra*, Vol. II, Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune.

⁴ Radhakrishnan, S. *Indian Philosophy*, Vol. I, Oxford University Press, 1951.

4. शासक की भूमिका और जिम्मेदारियां

विदुर शासक की कल्पना एक पूर्ण संप्रभु के रूप में नहीं, बल्कि लोगों के न्यासी और सेवक के रूप में करते हैं। वे इस बात पर जोर देते हैं कि शासक का व्यक्तिगत चरित्र राज्य की स्थिरता और नैतिक स्वास्थ्य को गहराई से प्रभावित करता है। विदुर के अनुसार, एक शासक को आत्म-नियंत्रण, ज्ञान, विनम्रता, करुणा और नैतिक अनुशासन विकसित करना चाहिए। वे चेतावनी देते हैं कि अहंकार, लालच, क्रोध और अनियंत्रित शक्ति की इच्छा से प्रेरित राजा अपने स्वयं के पतन के बीज बोते हैं और अपनी प्रजा पर दुख लाते हैं।

नेतृत्व की यह अवधारणा नैतिक और परिवर्तनकारी नेतृत्व के आधुनिक सिद्धांतों में मजबूत प्रतिध्वनि पाती है, जो सत्यनिष्ठा, जवाबदेही और सार्वजनिक भलाई के लिए सेवा पर जोर देते हैं। समकालीन लोकतांत्रिक प्रणालियों में, निर्वाचित प्रतिनिधियों से राज्य शक्ति के स्वामी के बजाय सार्वजनिक विश्वास के संरक्षक के रूप में कार्य करने की अपेक्षा की जाती है। आचार संहिता, हितों के टकराव के नियम और नैतिक निरीक्षण तंत्र इस अपेक्षा को दर्शाते हैं। विदुर का नैतिक आत्म-अनुशासन पर जोर इन आधुनिक मानदंडों का अनुमान लगाता है और इस विचार को पुष्ट करता है कि राजनीतिक नेतृत्व शक्ति का विशेषाधिकार नहीं, बल्कि एक नैतिक जिम्मेदारी है।⁵

5. न्याय, समानता और कानून का शासन

विदुर के राजनीतिक दर्शन में न्याय का एक केंद्रीय और गैर-समझौतावादी स्थान है। वह निष्पक्ष न्याय की पुरजोर वकालत करते हैं और शासकों को पक्षपात, भाई-भतीजावाद और भेदभाव के प्रति आगाह करते हैं। विदुर का मानना था कि अन्याय न केवल व्यक्तियों को नुकसान पहुंचाता है, बल्कि राज्य की नैतिक नींव को भी कमजोर करता है, जिससे विद्रोह, सामाजिक विखंडन और वैधता का नुकसान होता है। उनकी यह चेतावनी कि “जब न्याय कम होता है, तो राज्य अपनी नींव खो देता है” न्याय और राजनीतिक स्थिरता के बीच संबंध की गहरी समझ को दर्शाती है।

आधुनिक संवैधानिक लोकतंत्रों में, कानून के शासन, कानून के समक्ष समानता और न्यायिक स्वतंत्रता के सिद्धांतों को मौलिक माना जाता है। हालांकि, समकालीन समाज अभी भी न्यायिक प्रक्रियाओं में राजनीतिक हस्तक्षेप, कानूनों के चयनात्मक अनुप्रयोग और लगातार सामाजिक और आर्थिक असमानताओं जैसी चुनौतियों का सामना कर रहे हैं। निष्पक्ष न्याय पर विदुर का जोर एक नैतिक दृष्टिकोण प्रदान करता है जिसके माध्यम से इन चुनौतियों की आलोचनात्मक जांच की जा सकती है। उनका विचार इस विचार को पुष्ट करता है कि न्याय न केवल कानूनी होना चाहिए, बल्कि निष्पक्ष, पारदर्शी और समाज के सभी वर्गों के लिए सुलभ भी होना चाहिए।⁶

6. मंत्री, सलाहकार और भागीदारी वाला शासन

विदुर ने शासन में समझदार, ईमानदार और निडर सलाहकारों की भूमिका पर बहुत जोर दिया। उन्होंने शासकों को ईमानदार सलाह से खुद को अलग करने या ऐसे चापलूसों से घिरे रहने के खिलाफ चेतावनी दी जो उनके भेदभाव को और मजबूत करते हैं। विदुर खुद एक आदर्श मंत्री थे—जो सच्चाई, जनता की भलाई और नैतिक साहस के लिए समर्पित थे, भले ही उन्हें अपना नुकसान उठाना पड़े। उनका मानना था कि मिलकर विचार-विमर्श और जानकारी वाली सलाह फैसले लेने की क्षमता को मजबूत करती है और खतरनाक नीतियों को रोकती है।

आज के समय में, यह सोच भागीदारी और सलाह वाले शासन के सिद्धांतों से मेल खाती है। आज के देश मुश्किल सामाजिक-आर्थिक चुनौतियों से निपटने के लिए कैबिनेट सिस्टम, एक्सपर्ट कमेटियों, पॉलिसी थिंक टैंक और डीसेंट्रलाइज्ड फैसले लेने पर भरोसा करते हैं। विदुर की सोच इस विचार का समर्थन करती है कि शासन सबको साथ लेकर चलने वाला, जानकारी वाला और सोच-समझकर चलने वाला होना चाहिए, न कि तानाशाही वाला। इस तरह उनकी सोच आज के राजनीतिक सिस्टम में इंस्टीट्यूशनल प्लूरलिज्म और भागीदारी वाले लोकतंत्र के लिए नैतिक वजह देती है।⁷

⁵ Altekar, A. S. *State and Government in Ancient India*, Motilal Banarsidass, Delhi, 1958.

⁶ Sharma, R. S. *Ancient Indian Political Thought*, Oxford University Press, New Delhi, 2001.

⁷ Thapar, Romila. *Early India: From the Origins to AD 1300*, Penguin Books, 2003.

7. भ्रष्टाचार, लालच और पावर का गलत इस्तेमाल

विदुर भ्रष्टाचार और लालच को पॉलिटिकल स्टेबिलिटी और मोरल ऑर्डर के लिए सबसे बड़ा खतरा मानते थे। उन्होंने चेतावनी दी कि जो शासक और अधिकारी गलत तरीकों से पैसा जमा करते हैं, वे मोरल अथॉरिटी खो देते हैं और जनता का भरोसा कम करते हैं। विदुर के अनुसार, करप्शन इंस्टीट्यूशन को अंदर से खराब करता है और आखिर में राजनीतिक गिरावट और सामाजिक अशांति की ओर ले जाता है।

यह समझ आज की दुनिया में बहुत काम की है, जहाँ भ्रष्टाचार एक बड़ी ग्लोबल चुनौती बनी हुई है। विदुर के विचार मॉडर्न एंटी-करप्शन फ्रेमवर्क की मोरल नींव को मजबूत करते हैं, जिसमें पारदर्शिता कानून, जवाबदेही प्रणाली, विजिलेंस इंस्टीट्यूशन और ओम्बड्समैन सिस्टम शामिल हैं। पब्लिक लाइफ में नैतिक व्यवहार पर उनका जोर भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए लीगल और इंस्टीट्यूशनल तरीकों को पूरा करता है, जो हमें याद दिलाता है कि मोरल कमिटमेंट के बिना अकेले कानून काफी नहीं हैं।⁸

8. डिप्लोमेसी, शांति और झगड़े सुलझाना

विदुर शांति, बातचीत और डिप्लोमैटिक जुड़ाव के एक मजबूत समर्थक के तौर पर उभरे। उन्होंने कौरवों से लगातार पांडवों के साथ अपने झगड़े युद्ध के बजाय बातचीत से सुलझाने की अपील की। विदुर का मानना था कि गलत लड़ाइयों से बड़े पैमाने पर तबाही, दुख और नैतिक गिरावट आती है, जिससे कोई सच्चा विजेता नहीं बचता।

आज के इंटरनेशनल सिस्टम में, विदुर के विचार शांतिपूर्ण साथ रहने, कुटनीति और बातचीत के जरिए झगड़े सुलझाने के सिद्धांतों से मेल खाते हैं। उनकी सोच गांधीवादी अहिंसा और यूनाइटेड नेशंस जैसे संस्थानों द्वारा बनाए गए आज के ग्लोबल नियमों से मेल खाती है। ऐसे समय में जब मिलिट्रीवाद और आक्रामक राष्ट्रवाद ग्लोबल स्थिरता के लिए खतरा हैं, विदुर का नैतिक डिप्लोमेसी पर जोर नैतिक संयम और समझदारी भरी बातचीत पर आधारित एक हमेशा चलने वाला विकल्प देता है।⁹

9. लोगों की भलाई और राज्य का विचार

विदुर के लिए, राज्य का आखिरी मकसद लोगों की भलाई है। उनका मानना था कि भूख, गरीबी, अन्याय और शोषण राजनीतिक सत्ता की नैतिक वैधता को कमजोर करते हैं। विदुर के अनुसार, जो शासक लोगों की बुनियादी जरूरतों को नज़रअंदाज़ करता है, वह धर्म के अनुसार शासन करने का दावा नहीं कर सकता।

यह भलाई पर केंद्रित नज़रिया आज के वेलफेयर स्टेट थ्योरी और ह्यूमन डेवलपमेंट के तरीकों में मजबूत समानताएँ दिखाता है। आजकल की पब्लिक पॉलिसी सोशल सिक्योरिटी, एजुकेशन, हेल्थकेयर, गरीबी हटाने और सबको साथ लेकर चलने वाले विकास पर जोर देती है। विदुर के विचार इन ज़रूरी बातों का अंदाज़ा लगाते हैं, क्योंकि वे राज्य की लेजिटिमिटी को इलाके के विस्तार या मिलिट्री पावर के बजाय नागरिकों की भलाई पर आधारित करते हैं। इसलिए, उनकी सोच सोशल जस्टिस और सबको साथ लेकर चलने वाले शासन पर बहस के लिए आज भी ज़रूरी है।¹⁰

10. आधुनिक राजनीतिक सोच से तुलना

विदुर की राजनीतिक दर्शन की तुलना अरस्तू के एथिकल पॉलिटिक्स के कॉन्सेप्ट, गांधीवादी नैतिक लीडरशिप और अच्छे शासन की मॉडर्न थ्योरी से सही मायने में की जा सकती है। जहाँ वेस्टर्न पॉलिटिकल रियलिज़्म अक्सर पावर और स्ट्रेटेजिक इंटररेस्ट पर जोर देता है, वहीं विदुर का रियलिज़्म एथिकल बातों से संतुलित है। वह राजनीतिक टकराव और इंसानी कमजोरी को मानते हैं, लेकिन इस बात पर जोर देते हैं कि राजनीतिक कार्यवाही को नैतिक रोक और न्याय से गाड़ दिया जाना चाहिए।

यह संतुलित नज़रिया विदुर को पूरी तरह से आदर्शवाद या पूरी तरह से यथार्थवादी सोचने वालों से अलग करता है। उनकी दर्शन दिखाती है कि नैतिक राजनीतिक प्रैक्टिकल नहीं है, बल्कि टिकाऊ शासन के लिए ज़रूरी है। राजनीतिक निराशावाद से भरे इस ज़माने में, विदुर का नैतिकता और असलियत का मेल राजनीतिज्ञों के जानकारों, दोनों के लिए हमेशा रहने वाली समझ देता है।¹¹

⁸ Sen, Amartya. *The Idea of Justice*, Harvard University Press, 2009.

⁹ Gandhi, M. K. *Hind Swaraj*, Navajivan Publishing House.

¹⁰ Dreze, Jean & Sen, Amartya. *India: Development and Participation*, Oxford University Press.

¹¹ Sabine, G. H. *A History of Political Theory*, Oxford & IBH Publishing.

11. विदुर के राजनीतिक विचारों की सीमाएँ

अपने स्थायी महत्व के बावजूद, विदुर के राजनीतिक विचारों में कुछ सीमाएँ भी हैं। वे एक राजशाही संदर्भ में निहित हैं, जहाँ नैतिक सुधार शासक के चरित्र पर बहुत अधिक निर्भर करता है। विदुर नैतिक आचरण को लागू करने के लिए विस्तृत संस्थागत ढाँचे प्रदान नहीं करते हैं, बल्कि नैतिक प्रेरणा और व्यक्तिगत सदगुणों पर निर्भर रहते हैं। यह उनके दर्शन को तब विफल होने की संभावना बनाता है जब शासकों में नैतिक प्रतिबद्धता की कमी होती है, जैसा कि धृतराष्ट्र द्वारा विदुर की सलाह की बार-बार अवहेलना से पता चलता है।

हालाँकि, ये सीमाएँ विदुर के विचारों के महत्व को कम नहीं करती हैं। बल्कि, वे संवैधानिक सुरक्षा उपायों, स्वतंत्र संस्थानों और नागरिक शिक्षा के माध्यम से आधुनिक शासन में नैतिकता को संस्थागत बनाने की आवश्यकता पर प्रकाश डालती हैं। इस प्रकार, विदुर के विचार एक नैतिक दिशा-निर्देशक के रूप में मूल्यवान बने हुए हैं, जो आधुनिक संस्थागत तंत्रों को बदलने के बजाय उनका पूरक हैं।¹²

निष्कर्ष

महात्मा विदुर के राजनीतिक विचार नैतिकता, शासन और मानव कल्याण का एक कालातीत संश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। राजनीतिक अस्थिरता, नैतिक पतन और शासन संकटों की विशेषता वाले युग में, विदुर का धर्म, न्याय, जवाबदेही, परामर्श और सार्वजनिक कल्याण पर जोर समकालीन राजनीति के लिए एक शक्तिशाली नैतिक ढाँचा प्रदान करता है। हालाँकि प्राचीन संदर्भ में व्यक्त किए गए, उनके विचार समय से परे हैं और आधुनिक लोकतांत्रिक शासन, सार्वजनिक प्रशासन और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के लिए बहुत प्रासंगिक बने हुए हैं।

विदुर की राजनीतिक बुद्धिमत्ता को समकालीन राजनीतिक विमर्श में फिर से शामिल करने से अधिक नैतिक, न्यायपूर्ण और मानवीय शासन प्रणालियों के निर्माण में योगदान मिल सकता है। इस प्रकार, विदुर न केवल प्राचीन भारतीय विचार के एक व्यक्ति के रूप में, बल्कि स्थायी प्रासंगिकता वाले एक वैश्विक राजनीतिक विचारक के रूप में खड़े हैं।



¹² Gandhi, M. K. *Hind Swaraj*, Navajivan Publishing House.

अनुसूचित जाति के अधिकारों की वर्तमान स्थिति और भविष्य की दिशा : एक अध्ययन

अमृत कुमार रजक*

सार

प्रस्तुत आलेख अनुसूचित जाति के अधिकारों की वर्तमान स्थिति और भविष्य की दिशा पर अध्ययन प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों के आधार पर प्रस्तुत किया है। अध्ययन का उद्देश्य अनुसूचित जाति के अधिकारों की वर्तमान स्थिति और उनके भविष्य की दिशा तय किए जाने से संबंधित अध्ययन करना है। अनुसूचित जातियों को भारतीय संविधान के अनुच्छेद 46-47 के तहत विशेष अधिकार प्रदान किए हैं। भारत को आजाद हुए सात दशक बीत जाने के बावजूद अनुसूचित जातियों की सामाजिक-आर्थिक अंतराल बरकरार है, इसलिए वर्तमान स्थिति का विश्लेषण और भविष्य-निर्देश आवश्यक है।

मूल शब्द : अनुसूचित जाति, अधिकार, भविष्य की दिशा, सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति

परिचय :

अनुसूचित जाति के अधिकारों की स्थिति को समझने के लिये हमें दो मुख्य पहलुओं पर गौर करना आवश्यक है। वर्तमान वास्तविकता और भविष्य की दिशा। भारत के संविधान ने अनुसूचित जाति को सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक रूप से सशक्त बनाने हेतु विशेष आरक्षण व अधिकार प्रदान किए हैं, किन्तु वास्तविक जीवन में इनका पूर्ण लाभ अभी भी अधूरा है। इस लेख में हम संक्षिप्त तथ्य आंकड़ों प्रमुख चुनौतियों और संभावित सुधार नीतियों को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करेंगे, जिससे आगामी दशकों में अनुसूचित जाति की समग्र उन्नति सुनिश्चित की जा सके।

अनुसूचित जाति के अधिकारों की वर्तमान स्थिति को समझना आज के सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य में अत्यन्त आवश्यक है। संविधान द्वारा प्रदत्त आरक्षण, शिक्षा व रोजगार से विशेष अवसर तथा विभिन्न कल्याणकारी योजनाएं इस वर्ग को सशक्त बनाने का मुख्य स्तम्भ है। फिर भी सामाजिक भेदभाव आर्थिक असमानता और राजनीतिक प्रभाव की कमी जैसी चुनौतियां अभी भी बनी हुई हैं। इस लेख में हम उक्त पहलुओं का संक्षिप्त विश्लेषण कर प्रस्तुत किया है।

विधिक-संवैधानिक ढांचा :

संवैधानिक आरक्षण : अनुसूचित जातियों को रोजगार और शिक्षा में आरक्षण दिए जाने का प्रावधान है :

1. रोजगार (नौकरी) आरक्षण :

अनुच्छेद 16(4) के तहत सरकारी नौकरियों में 15% अनुसूचित जाति और 7.5% अनुसूचित जनजाति को पद पर आरक्षित है।

- 2022 की राष्ट्रीय भर्ती नीति में 'आरक्षण-शिक्षा' चयन प्रक्रिया अनिवार्य की गई, जिससे विज्ञापन में आरक्षण के स्पष्ट रूप से उल्लेखित हो।
- 2023 में केन्द्र के मंत्रालयों ने 33% अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति कोटा को सीधे भर्ती में लागू करने के निर्देश जारी किए।

2. शिक्षा आरक्षण :

- अनुच्छेद 15(4) और शिक्षा का अधिकार अधिनियम (2009) के माध्यम से सरकारी स्कूलों में 15% अनुसूचित जाति और 7.5% अनुसूचित जन-जाति के लिए सीटें आरक्षित हैं।
- उच्च शिक्षा/उपक्रम, स्नातकोत्तर में भी 15% अनुसूचित जाति और 7.5% आरक्षण अनुसूचित जन-जाति के लिए आरक्षण केन्द्रीय विश्वविद्यालयों, आईआईटी, एम्स आदि में लागू है।
- **छात्रवृत्ति एवं फेलोशिप :** प्री मैट्रिक, पोस्ट मैट्रिक, राष्ट्रीय छात्रवृत्ति पोर्टल के माध्यम से ट्यूशन फी एवं पुस्तक के लिए भत्ता दिए जाने का प्रावधान है।

* शोधार्थी, राजनीति विज्ञान, पूणियाँ विश्वविद्यालय, पूणियाँ

3. निगरानी एवं कार्यान्वयन :

- राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग और राष्ट्रीय अनुसूचित जन जाति आयोग आरक्षण के कार्यान्वयन की निगरानी करते हैं।
- 2023-24 के वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार, शिक्षा में आरक्षण का भर्ती दर 92% और रोजगार में 88% रहा, परन्तु ग्रामीण-शहरी अंतर अभी भी 10-12% है।

अतः संवैधानिक आरक्षण सामाजिक उन्नति के महत्वपूर्ण साधन है। इनका पूर्ण प्रभाव पाने के लिये प्रभावी कार्यान्वयन और निरन्तर निगरानी आवश्यक है।

सामाजिक-आर्थिक संकेतक :

तालिका : 1
सामाजिक-आर्थिक संकेतक तालिका

संकेतक	राष्ट्रीय औसत	अनुसूचित जाति औसत
साक्षरता (2022)	77%	66%
बेरोजगारी (2023)	7.2%	9.8%
भूमिकरण (2021)	48%	5%

स्रोत : राष्ट्रीय सर्वजीडीपी (2022-23), सामाजिक विकास रिपोर्ट (2023)

शिक्षा में स्थिति :

- प्राथमिक प्रवेश दर 92% पर पहुंच गई, परन्तु उच्च शिक्षा में प्रवेश 12% पर पहुंच गई जबकि राष्ट्रीय स्तर पर 25% पहुंच गई है।
- शिक्षा अधिकार अधिनियम (2009) के तहत अनुसूचित जाति छात्रों को स्कॉलरशिप व छात्रवृत्ति मिलती है, परन्तु वितरण में असमानता बनी हुई है।

आर्थिक सशक्तिकरण :

अनुसूचित जातियों के आर्थिक सशक्तिकरण के लिए निम्न योजनाएं चलाई जा रही है :

1. प्रधानमंत्री रोजगार गारंटी योजना :

इस योजना के तहत अनुसूचित जाति के लिए 30% आरक्षण दिये जाने का प्रावधान है, परन्तु वास्तविक लाभार्थियों की संख्या कम आंकी गई है।

2. माइक्रो-क्रेडिट एवं स्टार्ट-आप फंड :

इस योजना के तहत डिजिटल साक्षरता मिशन के तहत 5% फंड अनुसूचित जातियों के उद्यमियों को मिला है।

अतः उक्त योजनाओं से लाभान्वित होकर अनुसूचित जाति के लोग आर्थिक रूप से सशक्त हो रहा है।

राजनीतिक प्रतिनिधित्व :

- लोक सभा में अनुसूचित जाति सांसदों की संख्या 84 (15%) तक पहुंच चुका है।
- राज्य विधानसभाओं में भी समानुपातिक आरक्षण, परन्तु निर्णय-निर्माण में प्रभाव सीमित है।

प्रमुख चुनौतियां :

वर्तमान में अनुसूचित जातियों के सामने प्रमुख चुनौतियां हैं, जो निम्न बिन्दुओं में संक्षिप्त रूप से चर्चा की गयी है :

भेदभाव की संरचनात्मक प्रकृति :

वर्तमान में अनुसूचित जातियों के सामने प्रमुख चुनौतियां हैं, जो निम्न बिन्दुओं में संक्षिप्त रूप से चर्चा की गयी है :

- संविधान में आरक्षण का प्रावधान है, परन्तु कई बार नियमों की अस्पष्टता और न्यायिक प्रक्रिया की धीमी गति से लाभ पूरी तरह नहीं पहुंच पाते।
- अत्याचार निवारण अधिनियम जैसे कड़े कानूनों के बावजूद कार्यान्वयन में पक्षपात और लूपहोन्स बने रहते हैं।

सामाजिक वर्गीकरण :

- जाति-आधारित श्रेणीकरण सामाजिक मान्यताओं, आर्थिक ग्रंथों और रीति-रिवाजों में निहित है, जिससे ऊँचा-नीचा की धारणा सामाजिक बन जाती है।
- इस श्रेणीब (सोच से अनुसूचित जाति समुदाय को अक्सर अन्य माना जाता है, जिससे सामाजिक सम्पर्क सीमित हो जाता है।

आर्थिक संरचना :

- भूमि-धारण, रोजगार और वित्तीय सेवाओं में असमानता कमी रहती है। सरकारी नौकरियों में आरक्षण होने के बावजूद निजी क्षेत्र में अवसरों की कमी और नेटवर्क की कमी से आर्थिक उन्नति बाधित होती है।
- माइक्रो-क्रेडिट स्टार्ट-अप फंड आदि में अनुसूचित जाति उद्यमियों को अक्सर कम समर्थन मिलता है।

शिक्षा एवं मीडिया :

- स्कूल-कॉलेज में पाठ्यक्रम और शिक्षकों के दृष्टिकोण में जातीय पूर्वाग्रह रहता है, जिससे अनुसूचित जाति छात्रों को आत्मविश्वास और प्रदर्शन प्रभावित होता है।
- फिल्म, टेलीविजन और सामाजिक मीडिया में अक्सर अनुसूचित जाति समुदाय को रुढ़िवादी रूप में दिखाया जाता है, जिसके सामाजिक कल्पना में अल्पता को बल मिलता है।

राजनीतिक प्रतिनिधित्व एवं निर्णय-निर्माण :

- आरक्षण के काल प्रतिनिधित्व बढ़ा है, परन्तु नीति-निर्माण में वास्तविक प्रभाव सीमित है।
- स्थानीय स्तर पर सत्ता-संसाधनों का वितरण अक्सर पारम्परिक जातीय गठबंधनों के आधार पर होता है जिससे अनुसूचित जाति की भागीदारी कम हो जाती है।

भौगोलिक एवं सामाजिक अलगाव :

- ग्रामीण शहरी विभाजन, रेजरण्ड कॉलोणियों और जातीय गांवों के कारण सामाजिक संपर्क सीमित रहता है।
- इससे सामाजिक पूंजी ;नेटवर्क, पेंटरशिप, सूचना का अभाव बना रहता है, जो आगे की उन्नति में बाधा बनता है।

अतः अनुसूचित जातियों के लिए उपरोक्त चुनौतियों के अलावा सामाजिक मान्यताओं में बदलाव धीमा, भूमि-अधिकार व पूंजी की कमी, आर्थिक असमानता, अत्याचार की बढ़ती घटनाएं एवं जाति आधारित डेटा संग्रह में अंतर प्रमुख चुनौतियां बरकरार हैं।

भविष्य की दिशा :

अनुसूचित-जाति के भविष्य की दिशा सकारात्मक हो, इसके लिए निम्न बिंदुओं पर चर्चा की गई है :

- **डेटा-ड्रिवन नीति** : जाति-आधारित डेटा-ड्रिवन नीति को नियमित बनाना जरूरी है।
- **समावेशी शिक्षा** : अनुसूचित जाति के छात्रों के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षण सामग्री व शिक्षक प्रशिक्षण आवश्यक है।
- **आर्थिक उद्यमिता** : विशेष फंड (दलित इन्टरप्रीनरशिप फंड) के माध्यम से स्टार्ट अप को समर्थन करना चाहिए।
- **सामाजिक जागरूकता** : मीडिया व सिविल सोसायटी द्वारा भेदभाव विरोधी अभियान चलाना आवश्यक है।
- **कानूनी सुधार** : अत्याचार अधिनियम में तेजी से कार्यवाही हेतु विशेष न्यायालयों की स्थापना की जानी चाहिए।

निष्कर्ष :

अनुसूचित जातियों के अधिकारों में प्रगति स्पष्ट है, परन्तु सामाजिक-आर्थिक अंतर को पाटने के लिये नीति-निर्माण कार्यान्वयन और सामाजिक परिवर्तन को एक साथ आगे बढ़ाना आवश्यक है, तभी भविष्य में अनुसूचित जाति को वास्तविक समानता और सम्मान मिल सकेगा।

संदर्भ :

1. रश्मि आर. शर्मा (2022) ग्राहक एक्टिविज्म अमोंग दलित, राउटलेज इंडिया, पृष्ठ 84–101
2. एस.के. सिंह (2020) अम्बेडकर मूवमेन्ट एण्ड सोशल जस्टिस, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ 32–49
3. कुमार श्याम (2019) दलित वूमेन मूवमेन्ट, हार्परकोमिन्स, पृष्ठ 55–73
4. उर्वशी ब्रटालिया (1998) द अदर साइड ऑफ साइलेन्स पेंगुइन बुक्स, पृष्ठ 140–158
5. मोहन भार्गव (2015) कास्ट, पॉवर एण्ड पॉलिटिक्स, दलित एसरशन इन कन्टेम्प्रेरी इण्डिया, सेज पब्लिकेशन्स, पृष्ठ 91–108
6. रमा शंकर (2012) दलित स्ट्रगल एण्ड सोशल रिफॉर्म, पिर्यसन इंडिया, पृष्ठ 62–84
7. संजय पासवान (2008) दलित मूवमेन्ट इन इण्डिया : एक क्रिटिकल एप्रेशल, रावत पब्लिकेशन्स, पृष्ठ 23–38
8. कोल ओपवेट्ट (1994) दलित एण्ड द डेमोक्रेटिक रिव्यूलेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 78–95
9. इलेनोर जेसियोट (1996) काम अनटचेबुल टू दलित : एशय ऑन द अम्बेडकर मूवमेन्ट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 78–95
10. डॉ. भीमराव अम्बेडकर (1936) एन्निहिलेशन ऑफ कास्ट, नवायणा प्रकाशन, पृष्ठ 45–62



दलित अधिकारों के लिए संघर्ष और सुधार आंदोलन : पूर्णियाँ जिला के विशेष संदर्भ में एक अध्ययन

संतोषी कुमारी*

सार

दलित-केन्द्रित सामाजिक सुधार आंदोलनों ने भारतीय समाज में सदियों से चली आ रही जाति-आधारित भेदभाव और विशेष उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठाई जाती रही। यह लेख पूर्णियाँ जिला के संदर्भ में अध्ययन कर प्रस्तुत किया है। इस लेख का उद्देश्य दलितों अधिकारों के लिए संघर्ष और सुधार आंदोलनों का अध्ययन करना है। इस लेख में उन दलित-केन्द्रित अधिकारों एवं सामाजिक सुधार आंदोलनों के बारे में चर्चा की गई है जिनकी वजह से दलित समाज को एक नई दिशा मिली। यह लेख द्वितीयक तथ्यों पर आधारित है।

मूल शब्द : सामाजिक सुधार आंदोलन, आर्थिक, राजनीतिक सांस्कृतिक, जाति-आधारित भेदभाव, दलित अधिकार

परिचय :

दलित अधिकारों के लिए संघर्ष और सुधार आंदोलनों में विविध समाज सुधारको ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है जिससे प्रमुख हैं— ज्योतिराव फूले, डॉ. भीम राव अंबेडकर, श्री नारायण धर्म परियोजन योग्य, पेरियार ई.बी. रामास्वामी आदि की भूमिका महत्वपूर्ण रहा है। पेरियार ने ब्राह्मणवादी विचारधारा और परंपराओं को चुनौती दी, जिन्हें वे सामाजिक असमानता और निचली जातियों का मूल कारण मानते थे। नारायण गुरु ने इन आंदोलनों ने निचली जातियों के सामाजिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए काम किया। अतः इस प्रकार से दलित अधिकारों के लिए संघर्ष और सुरक्षा आंदोलनों विविध समाज सुधारकों का महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

आंदोलनों की मुख्य विशेषताएँ :

दलित वर्ग के उत्थान के आंदोलनों की महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस आंदोलनों की मुख्य विशेषताएँ बिन्दु में देखा जा सकता है :

- **भेदभाव का विरोध :**

इन आंदोलनों ने सार्वजनिक स्थानों, शिक्षा, मंदिरों और अन्य सामाजिक क्षेत्रों में दलितों के साथ होने वाले भेदभाव का पुरजोर विरोध किया।

- **समानता और न्याय की मांग :**

दलितों ने समाज में बराबरी का दर्जा और न्याय की मांग की, ताकि उन्हें भी अन्य नागरिकों के समान अधिकार और अवसर मिल सकें।

- **सामाजिक सुधार :**

आंदोलनों ने अस्पृश्यता को खत्म करने, शिक्षा को बढ़ावा देने, महिलाओं के अधिकारों की रक्षा करने और अन्य सामाजिक बुराइयों को दूर करने पर जोर दिया।

- **राजनीतिक सशक्तिकरण :**

दलित नेताओं और आंदोलनों ने राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सत्ता में भागीदारी की वकालत की ताकि दलित समुदाय अपनी आवाज बढ़ा सके और अपने हितों की रक्षा कर सकें।

- **सांस्कृतिक पुनर्जागरण :**

दलित साहित्य, कला और अन्य सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से अपनी पहचान और गौरव को स्थापित करने का प्रयास किया गया।

* शोधार्थी, राजनीति विज्ञान, पूर्णियाँ विश्वविद्यालय, पूर्णियाँ

प्रमुख दलित-केंद्रित सामाजिक सुधार-आंदोलन और नेता :

1. ज्योतिराव फुले और सत्यशोधक समाज (1873):

ब्राह्मणवादी वर्चस्व को चुनौती रही और समानता को ज्योतिराव फुले ने बढ़ावा दिया। शूद्रों और महिलाओं की शिक्षा के लिए काम किया। ज्योतिराव फुले ने महसूस किया कि शिक्षा सामाजिक मुक्ति का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। उन्होंने विशेष रूप से शूद्रों (तब कथित निचली जातियाँ) और महिलाओं को शिक्षा के अवसर प्रदान करने के लिए अथक प्रयास किए। अपनी पत्नी सावित्रीबाई फुले के साथ मिलकर उन्होंने लड़कियों के लिए पहला स्वदेशी स्कूल स्थापित किया।

2. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर और अम्बेडकरवादी आंदोलन :

इन्होंने दलितों के राजनीतिक अधिकारों, शिक्षा और सामाजिक सम्मान के लिए संघर्ष किया। महाड सत्याग्रह और कामाराम मंदिर सत्याग्रह जैसे आंदोलनों का नेतृत्व किया। डॉ. अम्बेडकर और अम्बेडकरवादी आंदोलनों ने भारतीय समाज में गहरी जाति व्यवस्था जकड़ कर रखी थी, जो हिलाकर रख दिया। उनके प्रयासों के परिणामस्वरूप आज संविधान में दलितों को कई अधिकार प्राप्त हैं और सामाजिक न्याय की दिशा में प्रगति हुई है। उनका संघर्ष आज भी लाखों लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत है।

3. दलित पैथर्स आंदोलन (1972):

महाराष्ट्र में जाति आधारित हिंसा और आर्थिक शोषण के खिलाफ उभरा। दलित पहचान और अधिकारों की मजबूती के लिए काम किया। यह संगठन ने दलितों पर होने वाले अत्याचारों, जैसे मारपीट, बलात्कार और हत्याओं के खिलाफ आवाज उठाई और पीड़ितों के लिए न्याय की लड़ाई लड़ी। इसके अलावा दलित पैथर्स ने भूमिहीनता, गरीबी और बंधुआ मजदूरी जैसी समस्याओं के खिलाफ लड़ाई लड़ी और दलितों के लिए बेहतर आर्थिक अवसरों की मांग की।

4. श्री नारायण धर्म परिपालन योगम, केरल :

नारायण गुरु द्वारा स्थापित, इस आंदोलन ने निचली जातियों के सामाजिक आध्यात्मिक उत्थान के लिए काम किया। नारायण गुरु शिक्षा को सामाजिक प्रगति का सबसे महत्वपूर्ण साधन मानते थे। एस.एन.डी. पी.ने निचली जातियों के बच्चों के लिए स्कूल और कॉलेज स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ताकि वे ज्ञान प्राप्त कर सकें और समाज में अपना स्थान पा सकें।

5. आत्म-सम्मान आंदोलन, तमिलनाडु :

पेरियार ई.वी. रामासामी द्वारा शुरू किया गया इस आंदोलनों ने ब्राह्मणवादी रूढ़िवादिता को खारिज किया और सामाजिक समानता पर जोर दिया। पेरियार ने ब्राह्मणवादी विचारधारा और परंपराओं को चुनौती दी, जिन्हें वे सामाजिक असमानता और निचली जातियों के उत्पीड़न का मूल कारण मानते थे। उन्होंने धार्मिक ग्रंथों, रीति-रिवाजों और अंधविश्वासों की आलोचना की।

पूर्णिमा जिले में दलित अधिकारों के संघर्ष और सुधार आंदोलन :

दलित अधिकारों के संघर्ष और सुधार-आंदोलन के संदर्भ में अध्ययन से विदित होता है कि वर्ष 2021 में बैसी थाना के मझुवा गांव में महादलित बस्ती पर हुई हिंसा ने समुदाय में भय और असुरक्षा पैदा की। कुछ पार्टियों ने इसे इस्लामिस्ट एटैक कहा, जबकि एनसीडब्ल्यू ने शिकायत कर डी.जी.पी. से रिपोर्ट मांगी।

अगस्त 2024 में इण्डिया बानदा के तहत हुए रोड बैंड में दलित संगठनों ने अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षण के मुद्दे पर धरना दिया, रास्ता जाम कर जनता को जागरूक किया। यह आंदोलन दलितों की सामूहिक शक्ति को दिखाता है।

अम्बेडकर सेवा सदन में धना सितंबर 2025 में भारत मुक्ति मोर्चा ने चुनाव सुधार के अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति/पिछड़ा वर्ग के अधिकार और दलित आदिवासी के खिलाफ धरना दिया, जिससे दलितों की राजनीतिक आवाज मजबूत हुई।

अतः इस प्रकार से, मझुवा कोड ने दलित बस्ती में शारीरिक हिंसा को बढ़ावा दिया, जिससे सामाजिक तनाव बढ़ा। रोड बैंड और मार्च ने दलित संगठनों की एकजुटता को उजागर किया, जो केवल विरोध नहीं, बल्कि राजनीतिक मंच भी बन गया। अम्बेडकर सेवा सदन के धरने में चुनाव सुधार और आरक्षण की मांगे दलितों की दीर्घकालिक सुरक्षा और समावेशी नीतियों के लिए आवश्यक है।

आंदोलनों का प्रभाव और विरासत :

दलित अधिकारों के संघर्ष सुधार आंदोलनों का भारतीय दलित समाज और सरकार को अत्यधिक प्रभावित किया, जिसकी चर्चा निम्न बिन्दुओं में की गई है :

32 दलित अधिकारों के लिए संघर्ष और सुधार आंदोलन : पुर्णियाँ जिला के विशेष संदर्भ में एक अध्ययन

• कानूनी और संवैधानिक परिवर्तन :

दलित आंदोलनों का प्रभाव संविधान में इन्हें कानूनी रूप से अधिकार दिया गया। भारतीय संविधान में अस्पृश्यता का उन्मूलन/अनुच्छेद 17 और आरक्षण प्रणाली इन आंदोलनों के कारण दलित समाज पर काफी अच्छा प्रभाव पड़ा, जिससे विकास का मार्ग का रास्ता खुल गया तथा समाज में अधिकारों का पालन किया जाने लगा, जिसमें भारतीय दलित समाज में परिवर्तन आया और दलित समुदायों को समाज में मान-सम्मान मिलने लगा तथा इसे देखने की नजरिए में भी बदलाव आया और इन्हें भी समानता की निगाह से देखना प्रारंभ धीरे-धीरे हुआ, अंततः इन अधिकारों से दलित समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा।

• राजनीतिक सशक्तिकरण :

इसी दौरान राजनीतिक सशक्तिकरण की बात करें तो इसका प्रभाव को उत्तर प्रदेश में देखा जा सकता है। जब काशीराम ने बहुजन समाज पार्टी (बसपा) जैसी राजनीतिक पार्टियों का उदय हुआ। इनका मुख्य उद्देश्य ही रहा कि दलितों का सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक रूप से सशक्त किया जाए तथा विकास की गति में मुख्य धारा में जोड़ने का प्रयास इन पार्टियों की भूमिका अत्यन्त ही महत्वपूर्ण साबित रहा जिसके परिणामस्वरूप दलित समुदायों में राजनीतिक के प्रति रुची में बढ़ोतरी हुई और राजनीतिक क्षेत्र में भी दलित समाज सशक्त होने लगा।

• सामाजिक गतिशीलता और पहुंच :

संविधान में दलित समुदाय के लिए शिक्षा, रोजगार, सामाजिक सुरक्षा हेतु आरक्षण दिए जाने का प्रावधान किया। आरक्षण नीतियों के कारण शिक्षा, रोजगार और सरकारी पदों पर दलित की पहुंच बढ़ी। भारतीय दलित समाज पर आरक्षण दिये जाने का काफी गहरा प्रभाव पड़ा। आरक्षण के कारण दलित समुदाय की शिक्षा के क्षेत्र में निरंतर आगे बढ़ने लगा। समाज में अन्य जातियों के लोगों के अलावा दलित समुदाय के लोगों का भी समाज में गतिशीलता आ गई और शिक्षा, रोजगार इत्यादि के क्षेत्र में धीरे-धीरे विकास होने लगा।

इसके परिणामस्वरूप दलित समुदाय के लोग आज शिक्षा, रोजगार आदि के क्षेत्र में आगे बढ़ते देखने को मिलता है। दलित समुदाय के लोग भी रोजगार के क्षेत्र में आज उच्च पदों पर आसीन हैं। इसलिए यह कहना गलत नहीं होगा कि भारतीय दलित समाज विकास के पथ पर निरंतर बढ़ रहे हैं।

• सांस्कृतिक पुनर्जागरण :

दलित साहित्य और कला के विकास में हाशिए पर रहने वाले समुदायों को अपनी पहचान और अधिकारों को व्यक्त करने का मंच दिया। भारत की विविध सांस्कृतिक विरासत में दलित समुदाय की एक अलग और समृद्ध पहचान है।

निष्कर्ष : दलित-केंद्रित अधिकार और सामाजिक सुधार आंदोलनों ने भारतीय समाज को अधिक समावेशी और समतावादी बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। हालांकि, जाति-आधारित भेदभाव आज भी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ है और दलितों के अधिकारों और समानता के लिए आज भी संघर्ष जारी है।

संदर्भ :

1. डॉ. भीमराव अंबेडकर (1931) एनिटीलेशन ऑफ कास्ट, नवायाया पब्लिशिंग, पृष्ठ संख्या 45-62
2. इलेनोर, जेलियोर (1996) काम अनटचेबुल टू दलित : एथेय ऑन द अम्बेडकर मूवमेन्ट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 78-95
3. गेल ओपवेदट (1994) दलित एण्ड द डेमोक्रेटिक रिब्यूलेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 112-130
4. संजय पासवान (2008) दलित मूवमेन्ट इन इण्डिया : ए क्रिटिकल एप्रेशल, रावत पब्लिकेशन्स, पृष्ठ 23-28
5. रमा शंकर (2012) दलित स्ट्रगल एण्ड सोशल रिफार्म, पियर्सन इंडिया, पृष्ठ 67-84
6. मोहन भार्गव (2015) कास्ट, पॉवर एण्ड पोलिटिक्स : दलित एसरशन इन कन्टेम्पोरेरी इण्डिया, सेज पब्लिकेशन्स, पृष्ठ 91-108
7. उर्वशी बुरालिया (1998) द अदर साइड ऑफ साइलेन्स : वोड ऑफ द पार्पीशन एण्ड दलित एक्सपेरियन्स, पेंगुइन बुक्स, पृष्ठ 140-158
8. कुमार श्याम (2019) दलित वूमेल मूवमेन्ट : इशू एण्ड चैलेन्ज, हार्परकोलिन्स, पृष्ठ 55-73
9. एस.के. सिंह (2020) अम्बेडकर मूवमेन्ट एण्ड सोशल जस्टिस, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ 32-49
10. रश्मि और शर्मा (2022) ग्रासरूट एक्टिविज्म अमोग दलित:केस स्टडीज ऑफ बिहार, राउटलेज इंडिया, पृष्ठ 84-101

राष्ट्रीय आन्दोलन में दलित चेतना : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

डॉ. अक्षय कुमार*

सार :

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन देश के विभिन्न वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ समेटे हुए था। राष्ट्रीय आन्दोलन एवं उसके परिणामस्वरूप होने वाली प्राप्तिओं के प्रति देश के विभिन्न वर्गों में अनेक आकांक्षाएं एवं ब्रिटिश शासन के विरुद्ध पूरी तरह से युद्धरत थे तथा कुछ व्यक्ति एवं गुटों का प्रारंभिक लक्ष्य ब्रिटिश शासन की अपेक्षा देश में व्याप्त तत्कालीन शोषणकारी एवं इन वर्गों के उत्पीड़न की प्रमुख वजह रही। प्रस्तुत लेख में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सरकार की नीतियों के माध्यम से सहयोग प्राप्त कर देश में जातिव्यवस्था रूपी व्याप्त उत्पीड़नकारी व्यवस्था के निर्मूलन तथा दलित वर्ग के सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक उत्थान हेतु किए जाने वाले प्रयासों पर चर्चा की गई है साथ ही यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है कि दलितों को भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में वह सम्मानजनक स्थान आज तक नहीं मिल सका है जिसके वो हकदार हैं, बल्कि उनके योगदान को कमतर आंकने एवं मिटाने का प्रयत्न किया जाता रहा है।

विशिष्ट शब्द : दलित चेतना, राष्ट्रीय आन्दोलन, ब्रिटिश शासन, सामाजिक, आर्थिक, नितियां आदि।

दलित शब्द का प्रयोग केवल गंदगी, अपवित्रता या छुआछूत के विचारों के प्रति अस्वीकृत को ही नहीं दर्शाता है, बल्कि यह एकीकृत गर्व की एक चेतना अथवा समानता की दिशा में एक आंदोलन को भी दर्शाता है, दलित जातियों के उत्पीड़न का इतिहास काफी प्राचीन रहा है। धर्म तथा जाति व्यवस्था से जुड़े अत्याचारों के कारण दलित, पीड़ित, शोषित जातियों में चेतना का जन्म हुआ और गैरबराबरी की सामाजिक व्यवस्था को बदलने के लिए वे संगठित हुए और समाजिक दासता के विरुद्ध आंदोलन खड़ा किया।

उन्नीसवीं शताब्दी को भारतीय इतिहास में पुनर्जागरण व सामाजिक सुधार का काल माना जाता है। राममोहन राय तथा ब्रह्म समाज के अन्य सुधारकों ने जाति प्रथा की निंदा की किन्तु उनका प्रयास समाज के उच्च जातियों के बीच गैर-बराबरी के भेद को मिटाने तक ही सीमित था। उदाहरण के लिए केशवचंद्र सेन के नेतृत्व वाले भारत के ब्रह्म समाज ने ब्राह्मण से जनेऊ परित्याग करने की मांग की तथा उसे जातीय व्यवस्था के लिए क्रांतिकारी कदम माना गया। दलितों की स्थिति की ओर इनका ध्यान तक नहीं गया।¹ दयानंद सरस्वती और उनके आर्य समाज ने सभी जाति के लोगों के वेदों को पढ़ने का अधिकार देने की बात कही लेकिन दलितों में शिक्षा थी ही नहीं, इसलिए वे उनका लाभ उठा ही नहीं सकते थे। रामकृष्ण परमहंस व उनके शिष्य स्वामी विवेकानंद मानव सेवा को ईश्वर सेवा बता कर निर्धनों की सेवा पर विशेष बल दिया। उन्होंने किसी भी व्यवसाय को ऊँचा या नीचा नहीं माना और छुआछूत का विरोध किया, लेकिन इससे दलितों की स्थिति में सुधार नहीं हुआ और दलितों की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही। दक्षिण भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी ने दलितों की बच्चों को शिक्षित करने के उद्देश्य से एक विद्यालय की स्थापना की गई। ईसाई मिशनरियों ने भी दलितों को शिक्षित करने व उनकी सेवा करने का कार्यक्रम चलाया। लेकिन इनका वास्तविक उद्देश्य दलितों को ईसाई बनाना था। इसलिए उनके प्रयासों को संदेह की दृष्टि से देखा गया। महाराष्ट्र में एम.जी. रानाडे व उनके प्रार्थना समाज ने 1898 ई. में दलित वर्ग मिशन की स्थापना करके जाति-प्रथा के खिलाफ आंदोलन चलाया लेकिन दलितों को उससे कोई लाभ नहीं हुआ।

गाँधी जी द्वारा दलितों की स्थिति सुधारने में जो प्रयास किया गया वह भी असफल रहा। दलित की स्थिति इतनी दयनीय थी कि ब्रिटिश सरकार भी उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त करने के योग्य नहीं मानती थी। शिक्षा पर ऊँची जातियों का एकाधिकार था और दलित जाति शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाती थी।² सरकारी नौकरियों में केवल निम्न कार्य करने के लिए दलितों को रखा जाता था और उन्हें बहुत कम वेतन दिया जाता था। सामाजिक क्षेत्र में कानून बनने के बावजूद दलितों को सार्वजनिक सड़कों, तालाबों आदि का उपयोग करने नहीं दिया जाता है और सरकार द्वारा अनुदानित विद्यालयों में भी दलित जातियों के लड़कों के प्रवेश का उच्च जाति द्वारा विरोध किया जाता था।

* पी-एच0 डी0, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया UGC NET, December, 2023

दलितों की उक्त दयनीय स्थिति में सुधार लाने का बीड़ा उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में सबसे पहले ज्योती राव फुले और उनकी पत्नी सावित्री बाई ने उठाया। ज्योती राव फुले ने 1873 ई० में 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना करके दलितों को शिक्षित करने का अभियान प्रारंभ किया और उन्होंने उनके लिए अनेकों कठिनाईयों का सामना करते हुए विद्यालय खोले। उन्होंने दलित वस्तियों में बिजली, पानी और सफाई की व्यवस्था नगर पालिका के माध्यम से कराने का प्रयास किया और उनकी रहन-सहन में सुधार लाने का प्रयास किया।³ 'सत्यशोधक समाज' के माध्यम से उन्होंने दलितों का शोषण करने वाले पुरोहितों का बहिष्कार करने, समाजिक उत्सवों, विवाह आदि का फिजूल खर्च कम करने, देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना करने में धन खर्च करने आदि से मना किया। उन्होंने दलितों को अपने अलग सामाजिक और सांस्कृतिक नियम बनाने के लिए भी कहाँ। उदाहरण के लिए, 'सत्य शोधक समाज' ने पुरे महाराष्ट्र में गैर-ब्राह्मणों में नई पद्धति से विवाह की, नई विधि विकसित की जिसमें सरल विधि से बिना पुरोहित के विवाह और अन्य दूसरे मांगलिक उत्सवों में बगैर फिजूल खर्च के साधारण तरीके से सम्पादित किया जाता था। उन्होंने स्त्रियों की स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास किया और लड़कियों की शिक्षा पर बल दिया। उन्होंने हिन्दू धर्म का तीव्र विरोध करते हुए पुनर्जन्म, दैववाद, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य आदि का खंडन किया। 'सत्यशोधक समाज' की गतिविधियों के फलस्वरूप दलितों के सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में एक नई चेतना पैदा की और इसका प्रभाव भारत के शेष भागों में पड़ा दलित वर्ग अपने अधिकारों को पाने के लिए सचेष्ट हुआ उसमें चेतना आने लगी। ज्योती राव फुले ने आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्र में भी दलितों की स्थिति को सुधारने की बात की।

ज्योती राव फुले की पत्नी सावित्री बाई ने भी दलितों की सेवा करने और उसकी स्थिति को ऊँचा उठाने में अपने पति का पुरा सहयोग किया और उन्होंने दलित लड़कियों को निःशुल्क पढ़ाकर महिलाओं में जागृति लाने का कार्य किया।

इसी प्रकार बंगाल में हरीचंद ठाकुर ने चांडालों की दशा सुधारने का प्रयास किया। उन्होंने उनके पिछड़ने का मुख्य कारण अशिक्षा माना और उन्हें शिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने दलितों से कहाँ की दलित शिक्षित बने, कठिन परिश्रम करे, धन कमाए तथा सरकारी नौकरी प्राप्त करे तभी वे अपने स्थिति को सुधार सकते हैं।⁴ उन्होंने यह भी कहाँ कि यदि दलित संगठित होंगे तो पूर्ण राजनैतिक शक्ति प्राप्त करके पूर्ण मुक्ति के पद पर अग्रसर होंगे। उनके बताए हुए मार्गों पर दलितों ने कुछ हद तक चलने का प्रयास किया जिससे स्थिति में कुछ सुधार आया।

भारत में दलित आंदोलन की शुरुआत ज्योतिराव गोविंदराव फुले के नेतृत्व में हुई। ज्योतिराव फुले जाति से माली थे और समाज के ऐसे तबके से संबंध रखते थे जिन्हें उच्च जाति के समान अधिकार नहीं प्राप्त थे। इसके बावजूद ज्योतिराव फुले ने हमेशा ही तथाकथित नीची जाति के लोगों के अधिकारों की पैरवी की। भारतीय समाज में ज्योतिराव का सबसे दलितों की शिक्षा का प्रयास था।⁵ ज्योतिराव ही वो पहले शख्स थे जिन्होंने दलितों के अधिकारों के साथ-साथ दलितों की शिक्षा की भी पैरवी की। इसके साथ ही ज्योतिराव ने महिलाओं के शिक्षा के लिए सहायनीय कदम उठाए। भारतीय इतिहास में ज्योतिराव ही वो पहले शख्स थे जिन्होंने दलितों की शिक्षा के लिए न केवल विद्यालय की वकालत की बल्कि सबसे पहले दलित विद्यालय की भी स्थापना की ज्योतिराव में भारतीय समाज में दलितों को एक ऐसा पथ दिखाया था जिसपर आगे चलकर दलित समाज और अन्य समाज के लोगों ने चलकर दलितों के अधिकारों की कई लड़ाई लड़ी। यूँ तो ज्योतिराव ने भारत में दलित आंदोलनों का सूत्रपात किया था लेकिन इसे समाज की मुख्यधारा से जोड़ने का काम बाबासाहेब डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने किया। एक बात और जिसका जिक्र किए बिना दलित आंदोलन की बात बेमानी होगी वो है बौद्ध धर्म। ईसा पूर्व 600 ईसवी में ही बौद्ध धर्म ने हिंदू समाज के निचले तबकों के अधिकारों के लिए आवाज उठाई। भगवान गौतम बुद्ध ने इसके साथ ही बौद्ध धर्म के जरिए एक समाजिक और राजनीतिक क्रांति लाने की भी पहल की। इसे राजनीतिक क्रांति कहना इसलिए जरूरी है क्योंकि उस समय सत्ता पर धर्म का आधिपत्य था और समाज की दिशा धर्म के द्वारा ही तय की जाती थी। ऐसे में समाज के निचले तलबे को क्रांति की जो दिशा भगवान बुद्ध ने दिखाई वो आज भी प्रासंगिक है।⁶ भारत में चार्वाक के बाद भगवान बुद्ध ही पहले ऐसे शख्स थे जिन्होंने ब्राह्मणवाद, जातीवाद और अंधविश्वास के खिलाफ न केवल आवाज उठाई बल्कि एक दर्शन भी दिया। जिससे कि समाज के लोग बौद्धिक दास्यता की जंजीरों से मुक्त हो सकें।

यदि समाज के निचले तबकों के आंदोलनों का आदिकाल से इतिहास देखा जाए तो चार्वाक को नकारना भी संभव नहीं होगा। यद्यपि चार्वाक पर कई तरह के आरोप लगाए जाते हैं इसके बावजूद चार्वाक

वो पहला शख्स था जिसने लोगों को भगवान के भय से मुक्त होने सिखाया। भारतीय दर्शन में चार्वाक ने ही बिना धर्म और ईश्वर के सुख की कल्पना की। इस तर्ज पर देखने पर चार्वाक भी दलितों की आवाज उठाता नजर आता है।¹⁷ खैर बात को लौटाते हैं उस वक्त जिस वक्त दलितों के अधिकारों को कानूनी जामा पहनाने के लिए भारत रत्न बाबा साहेब डा० भीमराव अम्बेडकर ने लड़ाई शुरू कर दी थी। एक वक्त था जब हमारे देश भारत ब्रिटिश उपनिवेश की श्रेणी में आता था। लोगों के ये दासता का समय रहा हो लेकिन दलितों के लिए कई मायनों में स्वर्णकाल था।

आज दलितों को भारत में जो भी अधिकार मिले हैं उसकी पृष्ठभूमि इसी शासन की देन थी। यूरोप में हुए पुर्नजागरण और ज्ञानोदय आंदोलनों के बाद मानवीय मूल्यों का महिमा मंडन हुआ। यही मानवीय मूल्य यूरोप की क्रांति के आदर्श बने। इन आदर्शों की जरिए ही यूरोप में एक ऐसे समाज की रचना की गई जिसमें मानवीय मूल्यों को प्राथमिकता दी गई। ये अलग बाद है कि औद्योगिकीकरण के चलते इन मूल्यों की जगह सबसे पहले पूंजी ने भी यूरोप में ली। लेकिन इसके बावजूद यूरोप में ही सबसे पहले मानवीय अधिकारों को कानूनी मान्यता दी गई। इसका सीधा असर भारत पर पड़ना लाजमी था और पड़ा भी। इसका सीधा सा असर हम भारत के संविधान में देख सकते हैं। भारतीय संविधान की प्रस्तावना से लेकर सभी अनुच्छेद इन्हीं मानवीय अधिकारों की रक्षा करते नजर आते हैं।¹⁸ भारत में दलितों की कानूनी लड़ाई लड़ने का जिम्मा सबसे सशक्त रूप में डॉ० अम्बेडकर ने उठाया। डॉ० अम्बेडकर दलित समाज के प्रणेता हैं। बाबा साहेब अंबेडकर ने सबसे पहले देश में दलितों के लिए सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों की पैरवी की।

साफ तौर पर भारतीय समाज के तात्कालिक स्वरूप का विरोध और समाज के सबसे पिछड़े और तिरस्कृत लोगों के अधिकारों की बात की। राजनीतिक और सामाजिक हर रूप में इसका विरोध स्वाभाविक था। यहां तक की महात्मा गांधी भी इन मांगों के विरोध में कूद पड़े। बाबा साहेब ने मांग की दलितों को अलग प्रतिनिधित्व (पृथक निर्वाचिका) मिलना चाहिए यह दलित राजनीति में आज तक की सबसे सशक्त और प्रबल मांग थी। देश की स्वतंत्रता का बीड़ा अपने कंधे पर मानने वाली कांग्रेस की सांसों भी इस मांग पर थम गई थीं। कारण साफ था समाज के ताने बाने में लोगों का सीधा स्वार्थ निहित था और कोई भी इस ताने बाने में जरा सा भी बदलाव नहीं करना चाहता था। महात्मा गांधी जी को इसके विरोध की लाठी बनाया गई और बैठा दिया गया आमरण अनशन पर। आमरण अनशन वैसे ही देश के महात्मा के सबसे प्रबल हथियार था और वो इस हथियार को आये दिन अपनी बातों को मनाने के लिए प्रयोग करते रहते थे। बाबा साहेब किसी भी कीमत पर इस मांग से पीछे नहीं हटना चाहते थे वो जानते थे कि इस मांग से पीछे हटने का सीधा सा मतलब था दलितों के लिए उठाई गई सबसे महत्वपूर्ण मांग के खिलाफ में हामी भरना। लेकिन उन पर चारों ओर से दबाव पड़ने लगा। और अंततः पूना पैक्ट के नाम से एक समझौते में दलितों के अधिकारों की मांग को धर्म की दुहाई देकर समाप्त कर दिया गया। इन सबके बावजूद डॉ० अंबेडकर ने हार नहीं मानी और समाज के निचले तबकों के लोगों की लड़ाई जारी रखी। डा० अंबेडकर की प्रयासों का ही ये परिणाम है कि दलितों के अधिकारों को भारतीय संविधान में जगह दी गई। यहां तक कि संविधान के मौलिक अधिकारों के जरिए भी दलितों के अधिकारों की रक्षा करने की कोशिश की गई।

उपर्युक्त लोगों ने यह महसूस किया कि सवर्णों के द्वारा दलित एवं अछूतों पर जो अत्याचार हो रहा है, यह कार्य अमानवीय है, इसको दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। अगर इसको दूर नहीं किया गया तो स्वतंत्र भारत का सपना केवल काल्पनिक बनकर रह जायेगा। अंग्रेजी हुकूमत से लोहा लेने एवं देशवासियों में एकता एवं अखण्डता की भावना को प्रबल बनाने के लिए दलितों को खोई हुई सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार दिलाना अति आवश्यक है। उपर्युक्त नेताओं ने सवर्णों से आग्रह किया कि वे अपनी उदारता का परिचय देते हुए छुआछूत, भेद-भाव और रुढ़िवादी परम्परा को त्यागे तथा दलित एवं अछूत भाईयों को अपने गले लगाकर बन्धुत्व की भावना को सुदृढ़ करें। उसे खोई हुई सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार दिलाने में सहयोग प्रदान करें। इस कार्य से देशवासियों के बीच एकता, अखण्डता और राष्ट्रियता की भावना का विकास होगा और हमसब एक साथ मिलकर ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ आवाज उठा सकेंगे।

उद्देश्य

1. दलितों की उक्त दयनीय स्थिति में सुधार लाने का बीड़ा उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में सबसे पहले ज्योती राव फुला और उनकी पत्नी सावित्री बाई ने उठाया इसकी जानकारी प्राप्त करना ।
2. उन्नीसवीं शताब्दी को भारतीय इतिहास में पुनर्जागरण सामाजिक सुधार का काल माना जाता है इसे ज्ञात करना ।

3. भारत में दलित आंदोलन की शुरुआत ज्योतिराव गोविंदराव फुले के नेतृत्व में हुई इसकी जानकारी प्राप्त करना ।
4. बाबा साहब ने मांग की दलितों को अलग प्रतिनिधित्व (पृथक निर्वाचिका) मिलना चाहिए यह दलित राजनीति में आज तक की सबसे सशक्त और प्रबल मांग थी इसे ज्ञात करना ।

निष्कर्ष : निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि बिहार के रूढ़िवादी, सामंतवादी, भूपतियों और सम्पन्न व्यक्तियों ने अछूत एवं दलित के सामाजिक विषमताओं को उचित समझा। उसको दूर करने का प्रयास किये। ब्राह्म समाज, आर्य समाज और थियोसोफिकल सोसायटी के नेता सामने आये तथा सामाजिक विषमताओं को दूर करने का प्रयास किया। लेकिन सामाजिक विषमता और छुआछूत समाज में ज्यों का त्यों बनी रही। साथ ही यह कहा जा सकता है कि बीसवीं सदी के प्रारंभ में दलितों की जो दयनीय स्थिति थी उसमें दलित सुधारकों एवं सरकार के प्रयासों के फलस्वरूप क्रमशः सुधार हुआ। किन्तु अभी भी समानता के दृष्टिकोण से दलितों के स्थिति संतोषजनक नहीं है। दलित समाज की स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता है। तथा स्वर्णों की मानसिकता में बदलाव आना आवश्यक है। साथ ही दलित-चेतना भी सकारात्मक दिशा में अग्रसर होनी चाहिए।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. कुमार, वी. आजादी का आन्दोलन या आर्य ब्राहमणों की वर्चस्वता अभियान, डी.के.खपड़े फाउंडेशन, मुंबई,
2. बिहार 1967, इलेक्शन कमीशन ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली।
3. रिपोर्ट, जेनरल इलेक्शन 1971, इलेक्शन कमीशन ऑफ इण्डिया, नयी दिल्ली।
4. बिहार असेम्बली इलेक्शन सर्वे 1995, सी०एस०डी०एस० डेटा यूनिट, सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसायटीज (सी०एस०डी०एस०) दिल्ली
5. बिहार इलेक्शन स्टडी 2000, सी०एस०डी०एस० डेटा यूनिट, सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसायटीज (सी०एस०डी०एस०) दिल्ली
6. नेशनल इलेक्शन स्टडी 2004, सी०एस०डी०एस० डेटा यूनिट, सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसायटीज (सी०एस०डी०एस०) दिल्ली
7. बिहार लेजिस्लेटिव असेम्बली इलेक्शन फरवरी 2005, रिपोर्ट इलेक्शन कमीशन ऑफ फीस पटना, 2005
8. बिहार असेम्बली इलेक्शन, अक्टूबर-नवम्बर, 2005, सी०एस०डी०एस० डेटा यूनिट, सेंटर फॉर द स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसायटीज (सी०एस०डी०एस०) दिल्ली

महादेवी वर्मा के काव्य में स्त्री-यथार्थ, संवेदना और स्वप्न-लोक

चंद्रप्रकाश गोस्वामी*

शोध सार

छायावाद के पुरुष-प्रधान काव्य-परिदृश्य में महादेवी वर्मा एक ऐसी कवयित्री के रूप में उभरती हैं, जिनका काव्य 'स्वानुभूति' पर आधारित गहन संवेदनात्मक धारा को सामने लाता है। लेख में यह प्रतिपादित किया गया है कि द्विवेदी युग की सुधारवादी स्त्री-दृष्टि से आगे बढ़कर महादेवी वर्मा ने स्त्री के मौन रुदन, विद्रोह, करुणा और आंतरिक संघर्ष को प्रतीकों—जैसे मौन, नीरवता, दीप, चिनगारी, मोती, अंधकार-प्रभात—के माध्यम से अत्यंत सशक्त रूप में व्यक्त किया।

महादेवी के काव्य में पीड़ा निष्क्रिय नहीं है, बल्कि एक सक्रिय चेतना है, जो स्त्री को नए इतिहास और नए अस्तित्व की ओर ले जाने का संकल्प प्रकट करती है। 'नीहार' से ही उनके काव्य में उभरने वाला स्वप्न-लोक उस स्त्री की आध्यात्मिक मुक्ति का क्षेत्र है, जो वास्तविक जीवन की सीमाओं में बाधित है। महात्मा गांधी और गौतम बुद्ध की करुणा-प्रधान मानवीय दृष्टि ने भी उनके चिंतन को गहराई से प्रभावित किया, जिसके कारण उनका काव्य व्यक्तिगत वेदना से ऊपर उठकर व्यापक मानव-संवेदना का रूप ले लेता है।

महादेवी वर्मा ने स्त्री को उसके जीवन-अनुभवों, संघर्षों और स्वायत्त अस्तित्व के संदर्भ में देखा। महादेवी वर्मा का काव्य आधुनिक हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श की प्रथम महत्वपूर्ण आधारभूमि है, जो स्त्री-यथार्थ, स्त्री-स्वतंत्रता और मानवतावादी मूल्यबोध को एक ऊँचे आध्यात्मिक और सौंदर्यपरक स्तर पर प्रतिष्ठित करता है।

महादेवी वर्मा का काव्य छायावाद की त्रयी के पुरुष कवियों—प्रसाद, निराला और पंत—से एक भिन्न मानसिक संरचना और 'स्वानुभूति' के कारण अलग पहचान रखता है। जहां द्विवेदी युग में स्त्री-चेतना मुख्य रूप से सहानुभूति और सुधार (जैसे विधवा विवाह) के भाव तक सीमित थी, वहीं महादेवी ने स्त्री-पराधीनता की विद्रोही भावना को अभिव्यक्ति दी। उनके काव्य का मूल स्वर भारतीय स्त्री की करुणा का क्रंदन है।

महादेवी की स्त्री-चेतना प्रतीकों और संकेतों में व्यक्त हुई है, क्योंकि उन्हें अपने युग के सामाजिक शिष्टाचार और रूढ़िवादी बंधनों की मर्यादा भी निभानी थी। उनके काव्य में बार-बार आने वाले 'नीरव', 'मौन', 'सूनापन' और 'अश्रु' जैसे शब्द न केवल स्त्री की शक्तिहीनता के प्रतीक हैं, बल्कि 'अकर्मण्यता के विपरीत प्रतिरोध का रूप' और 'आंतरिक स्वर' भी हैं। उन्होंने स्त्री जीवन के मौन रुदन, कष्ट, यातना और उपेक्षा से भरे यथार्थ को दर्शाया।

महादेवी के गीतों में स्त्री केवल 'नीरव' की दुःख की बदली बनकर ही नहीं रहती, बल्कि 'दीपशिखा' के रूपक से महान संकल्प शक्ति को भी दर्शाती है। उनका दीप निष्कंप है, जिसमें सैकड़ों आँधियों और विद्युतों से खेलने का साहस है। वे स्त्री को कठिन संघर्ष का मार्ग चुनने का आह्वान करती हैं: "पूछो न प्रात की बात आज/आंधी की राह चलो।"¹

उनकी वेदना सिर्फ व्यक्तिगत पीड़ा नहीं है, बल्कि संपूर्ण सृष्टि की वेदना बनकर उदात्त रूप धारण करती है। महादेवी का काव्य स्त्री-यथार्थ, स्त्री-स्वतंत्रता और राष्ट्र के स्वाधीनता आंदोलन के आलोक में स्त्री के महान संकल्पों का काव्य है।

* शोधार्थी, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली, 110025

मोबाइल नो. 9599844674, Email Id -rg495910@gmail.com

महादेवी वर्मा का काव्य छायावाद की अनुपम निधि है। जहाँ छायावाद के अन्य प्रमुख कवि-प्रसाद, पंत और निराला-पुरुष थे, वहीं महादेवी वर्मा का आगमन इस काव्यधारा को उसी तरह व्यापकता प्रदान करता है, जैसे भक्ति आंदोलन को मीरा के काव्य-सृजन ने नई ऊँचाइयाँ दीं।

उनकी रचनाओं में छायावाद के सभी मूल गुण स्वाभाविक रूप से उपस्थित हैं, परंतु एक स्त्री सृजनकर्ता होने के कारण उनके काव्य में स्त्री-मन की विशिष्ट अनुभूतियाँ, उसकी कोमल संवेदनाएँ और भीतर की मौन व्यथा अत्यंत सहजता से प्रकट होती हैं।

महादेवी एक कवयित्री होने के साथ खुद के स्त्री होने की उपस्थिति भी मजबूती से दर्ज करती हैं। उन्होंने स्वयं 'चांद' पत्रिका के 1935 में प्रकाशित 'विदुषी' अंक के अपने संपादकीय में यह स्पष्ट किया है- "कतिपय विद्वानों का यह मत कि स्त्रियाँ श्रेष्ठ कलाकार नहीं हो सकतीं, निरर्थक ही नहीं अनुचित भी है।"²

रीतिकालीन कविता में स्त्री का चित्रण मुख्यतः नायिका-भेद और नख-शिख वर्णन तक सीमित था, परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में साहित्य में स्त्री को उसके वास्तविक जीवन, अनुभवों और सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में देखना शुरू किया गया, जिससे स्त्री-विमर्श बाहरी सौंदर्य के वर्णन से आगे बढ़कर उसके अधिकारों, समस्याओं और आत्म-चेतना की ओर उन्मुख हुआ।

महादेवी वर्मा 'अतीत के चलचित्र' में स्मृत व्यक्तियों को याद करने से पहले पाठक को सावधान करती हैं कि लेखक की दृष्टि स्वभावतः सीमित होती है, इसलिए पाठक को उसी को अंतिम सच मानकर अपनी दृष्टि नहीं बनानी चाहिए। लेखक तो केवल उस व्यक्ति के जीवन की एक क्षणिक झलक दे सकता है, एक ऐसा आभास, जो न पूर्ण होता है और न ही अंतिम सत्य का दावा करता है। वह स्पष्ट रूप से कहती हैं- "अपने अग्रजों और सहयोगियों के सम्बन्ध में अपने आप को दूर रखकर कुछ कहना सहज नहीं होता। मैंने साहस तो किया है, पर ऐसे स्मरण के लिए आवश्यक निर्लिप्तता या असंगतता मेरे लिए सम्भव नहीं है। मेरी दृष्टि के सीमित शीशे में वे जैसे दिखाई देते हैं, उससे वे बहुत उज्ज्वल और विशाल हैं, इसे मानकर पढ़ने वाले ही उनके कुछ झलक पा सकेंगे।"³

महादेवी की कविता के केंद्र में स्त्री स्थित है, एक ओर वह स्त्री जीवन की पीड़ा, संघर्ष, एकांत और संवेदनात्मक जटिलताओं को अभिव्यक्त करती हैं, तो दूसरी ओर उनकी रचनाओं में विश्व-चेतना, करुणा, मानवता और आध्यात्मिक विस्तार के स्वर भी उभरते हैं, जहाँ स्त्री का अनुभव व्यक्तिगत होते हुए भी व्यापक मानवीय अनुभव का रूप ले लेता है। नीहार की पहली कविता में ही दृष्टव्य है, "नहीं अब गाया जाता देव ! /थकी ऊंगली, हैं ढीले तार/विश्ववीणा में अपनी आज/मिला लो यह अस्फुट झंकार!"⁴

महादेवी वर्मा गीत में अपनी असमर्थता व्यक्त करती हैं, और यह असमर्थता केवल व्यक्तिगत नहीं बल्कि राष्ट्रीय जीवन में अपनी भूमिका निभाने की आकांक्षा के बावजूद सामाजिक बंधनों से घिरी स्त्री की विवशता है। इसके बावजूद उनकी यह गहरी इच्छा बनी रहती है कि उनका स्वर विश्व-चेतना के व्यापक और मानवीय स्वर में सम्मिलित होकर उससे एकाकार हो जाए।

महादेवी कहती हैं कि स्त्री के भीतर मोती-सा कोमल सौंदर्य भी है और चिनगारी-सा प्रखर विद्रोह भी। सौंदर्य और विद्रोह, इन दो उल्लासपूर्ण शक्तियों के सहारे स्त्री अब मनुष्य की एक नई कथा रचेगी, इतिहास की एक नई दिशा बनाएगी। उनकी प्रसिद्ध कविता 'पंत होने दो अपरिचित, प्राण रहने दो अकेला' की भाव-संपन्न पंक्तियाँ इसी सत्य से भरकर उभरती हैं-

"दूसरी होगी कहानी, /शून्य में जिसके मिटे स्वर, /धूलि में खोई निशानी, /आज जिस पर प्रलय विस्मित, /मैं लगाती चल रही नित, /मोतियों की हार औ/चिनगारियों का एक मेला।"⁵

महादेवी वर्मा की रचनाधर्मिता ही उन्हें छायावाद की एक विलक्षण निधि बनाती है। पुरुष कवियों के वर्चस्व वाले इस युग में, एक स्त्री सृजनकर्त्री के रूप में उनका आगमन काव्यधारा को मीरा के काव्य-सृजन के

समान नई ऊँचाइयाँ प्रदान करता है। उनके काव्य का केंद्रीय स्वर वैयक्तिक अनुभूतियों, स्त्री-मन की कोमल संवेदनाओं, और भीतर की मौन व्यथा की अभिव्यक्ति है, जो 'स्वानुभूति' पर आधारित होने के कारण प्रसाद, निराला और पंत से अलग है। उन्होंने केवल एक कवयित्री के रूप में नहीं, बल्कि एक स्त्री होने की उपस्थिति को भी मजबूती से दर्ज किया, यह मानते हुए कि स्त्रियाँ श्रेष्ठ कलाकार हो सकती हैं।

महादेवी के लिए, स्त्री-चेतना की अभिव्यक्ति एक चुनौती थी। अज्ञेय के अनुसार "उन्हें तो वैयक्तिक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति भी देनी थी और सामाजिक शिष्टाचार तथा रूढ़ बंधनों की मर्यादा भी निभानी थी। यही भाव उन्हें प्रतीकों का आश्रय लेने को बाध्य करता है।"⁶

उन्हें एक ओर अपनी वैयक्तिक संवेदनाओं, मन की पीड़ा, अनुभूति, प्रेम, विरक्ति और अंतःसंघर्ष को व्यक्त करना था, तो दूसरी ओर समाज द्वारा निर्धारित शिष्टाचार, मर्यादाएँ और रूढ़िगत बंधनों का भी पालन करना पड़ता था। इसी दोहरे दबाव में उनका काव्य प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति के बजाय संकेतों, रूपकों और प्रतीकों का सहारा लेता है, जिससे वे अपने सत्य को कह भी सकें और सामाजिक मर्यादा भंग भी न हो।

इसी कारण उनके काव्य में 'अंधकार', 'प्रभात', 'दीप', 'पथिक', 'नीर', 'मोती', 'चिनगारी' जैसे प्रतीक बार-बार उभरते हैं। ये प्रतीक उनके भीतरी संसार के भावों को ढँकते भी हैं और पाठक के लिए खोलते भी हैं। आगे चलकर यही प्रतीक-चेतना उनके काव्य की सबसे बड़ी पहचान बन जाती है, जहाँ निजी वेदना सामूहिक अनुभव का रूप ले लेती है और स्त्री-स्वर अपने सांस्कृतिक-सामाजिक संदर्भों में एक गहरी प्रतिध्वनि उत्पन्न करता है।

"महादेवी जी और उनकी कविता का परिचय केवल 'नीर भरी दुख की बदली' या 'एकाकिनी बरसात' कहकर नहीं किया जा सकता। उन्हीं के शब्दों में उनका परिचय देना हो तो मैं यह पंक्ति उद्धृत करूँगा 'रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ।' निराला को छोड़कर किसी भी छायावादी कवि में जीवन की इतनी चाह नहीं है, जितनी महादेवी में। निराशावाद की अंधेरी रात में जीवन प्रभात की यह चाह महादेवी की रचनाओं में बार-बार दीप्त हो उठती है। और जितना ही यह अंधेरा घना होता है उतना ही यह चाह और भी तीव्र हो जाती है। महादेवी ने अलंकृत शब्दावली और मनोहर रूपकों में जीवन और सौंदर्य की इस आकांक्षा को बार-बार व्यक्त किया है- 'कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज। सुभग! हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज। बीती रजनी प्यारे जाग।' क्या जीवन से विमुख कोई भी व्यक्ति ऐसी सुंदर पंक्तियाँ लिख सकता है? क्या स्थूल के प्रति सूक्ष्म का निदोह कहने से उस ठोस जीवन-आकांक्षा, मानवीय प्रेम, मानवीय सौंदर्य की आकांक्षा की व्याख्या हो जाती है, जो इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है?"⁷

इसीलिए महादेवी वर्मा को केवल 'विरह की कवयित्री' या 'पीड़ा की मूर्तिमूर्ति' कह देना उनके काव्य का अत्यंत सीमित आकलन है। उनके यहाँ पीड़ा निष्क्रिय नहीं है, वह एक सक्रिय चेतना बनकर उदित होती है, एक ऐसी चेतना, जो जीवन में प्रकाश, अर्थ और सौंदर्य की खोज को निरंतर प्रेरित करती है। महादेवी के काव्य में दुःख आत्म-विलाप नहीं, आत्म-परिष्कार का माध्यम है; वह मनुष्य को भीतर से प्रज्वलित करने वाला वह शर है, जो अंधकार को चीरकर नए प्रभात की ओर ले जाता है।

उनकी प्रतीक-योजना, उनकी भाषा का सौंदर्य और शब्दों की पारदर्शिता—सब मिलकर एक ऐसी काव्य-भूमि रचते हैं, जहाँ दर्द और आशा साथ-साथ चलते हैं। 'नीर भरी बदली' का विषाद हो या 'दीप शिखा' का संकल्प, हर स्थान पर जीवन को स्वीकार करने का, उसे अर्थवान बनाने का आग्रह दिखता है। यही कारण है कि महादेवी का काव्य आधुनिक हिन्दी कविता में एक विशिष्ट 'प्रभात-दृष्टि' स्थापित करता है। उनकी रचनाओं में स्त्री-भावुकता नहीं, बल्कि एक गहरी आध्यात्मिक ऊष्मा और जीवन-विश्वास की चमक है, जो उन्हें छायावाद के अन्य कवियों से अलग पहचान देती है।

महादेवी जिस समय की स्त्री थीं, वह भारतीय समाज के गहरे बंधन और सीमाओं का दौर था—जहाँ स्त्री के लिए शिक्षा, स्वतंत्र इच्छा, व्यक्तिगत चयन और आत्मप्रकाश की संभावनाएँ अत्यंत सीमित थीं। घरेलू

दायित्वों, सामाजिक मर्यादाओं और पुरुष-केंद्रित सत्ता-संरचना के बीच उसकी आकांक्षाएँ अक्सर दबा दी जाती थीं। ऐसे समय में स्वप्न उसके लिए केवल कल्पना नहीं, बल्कि एक निजी मुक्ति-स्थल थे, जहाँ वह सब देख सकती थी जिसे वास्तविक जीवन में छूना संभव नहीं था। यही कारण है कि महादेवी की कविता में स्वप्न बार-बार उभरते हैं—वे उस स्त्री की आंतरिक साधना, उसकी अधूरी इच्छाओं और उसके मौन विद्रोह की प्रतीकात्मक भाषा बन जाते हैं। स्त्री बाहर से चाहे जितनी बाधित हो, महादेवी के काव्य-स्वप्नों में वह स्वतंत्र, संवेदनशील और अपने अस्तित्व को पहचानने वाली चेतना के रूप में दिखाई देती है।

अपने प्रथम काव्य-संग्रह 'नीहार' से ही वे एक रहस्यमय स्वप्नलोक रचती हैं, जहाँ संवेदनाएँ धुंध में भीगती हैं और जीवन अपने अदृश्य, अनकहे रूप में प्रकट होता है।

"स्वप्न लोक के फूलों से कर/ अपने जीवन का निर्माण/अमर हमारा राज्य' सोचते हैं जब मेरे पागल प्राण,/आकर तब अज्ञात देश से जाने किसकी मृदु झंकार,/गा जाती हैं करुण स्वरों में कितना पागल है संसार।"⁸

महादेवी को संसार से कई शिकायतें हैं, क्योंकि यह संसार स्त्रियों के लिए वैसा सुंदर, सुरक्षित और संवेदनशील नहीं है जैसा होना चाहिए। इसलिए वे अपनी कविता में बार-बार एक ऐसे विश्व की कल्पना करती हैं, जो स्त्रियों के दुःख, संघर्ष और क्लेश को मिटाकर उन्हें स्वतंत्र श्वास लेने का अधिकार दे। उनकी कविता में वसंत-रजनी स्मृति और स्वप्न दोनों के सहचर रूप में उपस्थित होती है—एक ऐसा क्षण जहाँ प्रकृति का सौंदर्य, आशा का प्रकाश और स्मरण की करुणा मिलकर एक नई, कोमल संवेदना रचते हैं। महादेवी वर्मा आह्वान करती हैं कि यह वसंत-रजनी समस्त विश्व को सुंदर बना दे, एक ऐसा विश्व जहाँ मनुष्य की करुणा, स्त्री की गरिमा और जीवन की शांति साथ-साथ खिल सकें—और यही वह बिंदु है जहाँ कवयित्री का व्यापक विश्वबोध अपनी पूर्ण आभा में उभर आता है। "घिर छाया सी श्याम, विश्व को आ अभिसार बनी!"⁹

महादेवी वर्मा के विचार-संसार पर जिन दो महान व्यक्तित्वों का गहरा प्रभाव पड़ा, उनमें एक ओर गौतम बुद्ध के करुणा-मूलक, समत्व-प्रधान और अहिंसा-निष्ठ दर्शन थे, तो दूसरी ओर महात्मा गांधी का सत्य, प्रेम और मानव-कल्याण से दीप्त नैतिक जीवन। बुद्ध ने उन्हें आंतरिक शांति, करुणा और आत्मसंयम का मार्ग दिखाया, जबकि गांधी ने सत्याग्रह, नारी-स्वाधीनता और सामाजिक न्याय के संघर्ष को एक नई नैतिक ऊँचाई पर स्थापित किया।

महात्मा गांधी का प्रभाव महादेवी पर केवल राजनीतिक न होकर अत्यंत आत्मिक था। गांधी का विश्वास था कि स्वतंत्रता केवल राष्ट्र की मुक्ति नहीं, बल्कि मानवता के उजाले का द्वार है। उनका सत्य और अहिंसा का मार्ग महादेवी को इसलिए भी आकर्षित करता है क्योंकि उनकी काव्य-चेतना में भी करुणा, संवेदना और नैतिक संकल्प की धारा निरंतर प्रवाहित होती है।

गांधी ने स्त्री को समाज की परिधि पर नहीं, बल्कि उसकी नैतिक धुरी पर प्रतिष्ठित देखा। वे स्त्री की स्वतंत्रता, उसकी गरिमा और उसके व्यक्तित्व की पूर्णता के पक्षधर थे। महादेवी जैसी संवेदनशील स्त्री-कवयित्री के लिए यह दृष्टि स्वाभाविक ही प्रेरक थी। गांधी के जीवन में उन्हें वह आदर्श पुरुष दिखाई देता है, जो शक्ति को हिंसा में नहीं, बल्कि समर्पण, धैर्य और सत्यनिष्ठा में देखता है। इसीलिए जब गांधी का निधन हुआ, तो महादेवी का हृदय केवल एक महापुरुष के जाने से नहीं, बल्कि मानवता के एक प्रज्वलित दीपक के बुझ जाने से व्यथित था। श्रद्धांजलि स्वरूप उन्होंने जो शब्द कहे, उनमें उनका आंतरिक दुःख, सम्मान और भावनात्मक लगाव स्पष्ट झलकता है। उनके शब्दों में गांधी केवल एक राजनीतिक नेता नहीं, बल्कि मानवता के पथप्रदर्शक, आत्मबल के स्रोत और नैतिक चेतना के आधार स्तंभ हैं।

"हे धरा के अमर सुत । तुझको अशेष प्रणाम । जीवन के अजस्र प्रणाम ! मानव के अनंत प्रणाम ! दो नयन तेरे धरा के अखिल स्वप्नों के चितरे, तरल तारक की अमा में बन रहे शत-शत सबेरे, पलक के युग शक्ति-सम्पुट मुक्ति-मुक्ता से भरे ये सजल चितवन में अजर आदर्श के अंकुर हरे ये।"¹⁰

महादेवी वर्मा का काव्य आधुनिक हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श की पहली गंभीर साहित्यिक भूमि तैयार करता है। उनके काव्य का मुख्य आधार एक ऐसी मानवतावादी चेतना है, जिसमें स्त्री की स्वतंत्रता और सामूहिक कल्याण शामिल है। उनकी नीर भरी दुःख की बदली स्वयं स्त्री है, और उनके दीप की लौ वस्तुतः स्त्री का नया संकल्प है। उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों और व्यक्तिगत वेदना के बीच संतुलन बनाते हुए, प्रतीकात्मकता के माध्यम से, स्त्री-यथार्थ, स्त्री-स्वतंत्रता और राष्ट्र के स्वाधीनता आंदोलन के आलोक में स्त्री के महान संकल्पों को व्यक्त किया है। महादेवी का काव्य स्त्री-भावुकता नहीं, बल्कि एक गहरी आध्यात्मिक ऊष्मा और जीवन-विश्वास की चमक है, जो उन्हें छायावाद की अनुपम निधि बनाती है।

महादेवी वर्मा का काव्य भारतीय स्त्री-अनुभूति, मानवीय करुणा और आध्यात्मिक संवेदना का ऐसा विरल संगम है, जिसकी चमक 21वीं शताब्दी में भी अक्षुण्ण बनी हुई है। आज जब स्त्री अपने अधिकार, स्वायत्तता, सामाजिक न्याय और आत्म-अभिव्यक्ति के लिए नए संघर्षों से गुजर रही है, महादेवी की कविता का संघर्ष, संकल्प और आत्मबल और भी अधिक प्रासंगिक हो उठता है। उनके काव्य का स्वप्न-लोक आधुनिक स्त्री के लिए केवल कल्पना नहीं, बल्कि आत्म-मुक्ति और अस्मिता की खोज का रूपक बन जाता है। उन्होंने जो मौन, पीड़ा और विद्रोह के प्रतीक गढ़े, वे आज की स्त्री की वास्तविकताओं से गहरे जुड़ते हैं—चाहे वह डिजिटल युग की नई चुनौतियाँ हों, या मानसिक स्वतंत्रता की चाह। महादेवी वर्मा का काव्य हमें याद दिलाता है कि संघर्ष की हर रात के भीतर एक उगता हुआ प्रभात छिपा है; और यह विश्वास उन्हें वर्तमान में 21वीं सदी में भी महिला कवयित्री के रूप में प्रासंगिक बनाता है।

संदर्भ सूची -

1. महादेवी साहित्य समग्र, भाग-1, संपादक निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2000, पृष्ठ-379
2. संपादकीय, चांद, वर्ष 1935, संपादक महादेवी वर्मा, पुनर्मुद्रित 'आजकल' मार्च 2007, नई दिल्ली, पृष्ठ-18
3. महादेवी वर्मा: पथ के साथी, (1956) राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली. भूमिका से
4. महादेवी साहित्य समग्र, भाग-1, संपादक निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2000, पृष्ठ-31
5. वहीं, पृष्ठ-305
6. उद्धृत- नवजागरण और महादेवी वर्मा का रचना-कर्म स्त्री-विमर्श के स्वर, कृष्णदत्त पालीवाल, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008, पृष्ठ-339
7. उद्धृत- नवजागरण और महादेवी वर्मा का रचना-कर्म स्त्री-विमर्श के स्वर, कृष्णदत्त पालीवाल, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008, पृष्ठ-340
8. संसार, महादेवी वर्मा, https://kavitakosh.org/kk/%E0%A4%B8%E0%A4%82%E0%A4%B8%E0%A4%BE%E0%A4%B0/_/%E0%A4%AE%E0%A4%B9%E0%A4%BE%E0%A4%A6%E0%A5%87%E0%A4%B5%E0%A5%80_%E0%A4%B5%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%AE%E0%A4%BE
9. महादेवी साहित्य समग्र, भाग-1, संपादक निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2000, पृष्ठ-164
10. महादेवी साहित्य समग्र, भाग-1, संपादक निर्मला जैन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2000, पृष्ठ-398

कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक एवं सामाजिक समायोजन का समाजशास्त्रीय अध्ययन

सम्प्रदा व्यास*

डॉ. अशोक कुमार श्रीवास्तव**

कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक एवं सामाजिक समायोजन का समाजशास्त्रीय अध्ययन एक महत्वपूर्ण विषय है। वर्तमान समय में आधुनिकता के प्रतिस्पर्धापरक समाज में यह अपने आप में चुनौतीपूर्ण है। जहाँ एक ओर परम्परागत रूप से सामाजिक क्रियान्वयन में वर्तमान समय में भी महिलाओं को समाज की रीतियों, नीतियों व रूढ़ियों को अपनाना है वहीं दूसरी ओर परिवार की व स्वयं तथा समाज की वर्तमान समय के अनुसार मॉग को भी पूर्ण करना अनिवार्य है।

कामकाजी महिलायें सदैव से ही दोहरी भूमिका का निर्वहन करती रही हैं। एक तरफ तो वह अपने नौकरी/पेशे के अनुरूप अपनी भूमिका निभाती हैं वहीं दूसरी ओर वह घर-परिवार में सामाजिक दायित्व के साथ ही साथ पारिवारिक संरचना और दायित्व में माँ, बहू, पत्नी व अन्य रिश्ते-नातों की जिम्मेदारियों को भी निर्वहित करती रहती हैं। इन दोनों भूमिकाओं में सन्तुलन बनाए रखना ही अपने आप में चुनौतीपूर्ण होती है।

नौकरी अथवा पेशे की भूमिका में महिलाओं का कार्यभार और इसी के साथ घर-परिवार में रिश्ते-नातों की अहम भूमिका का निर्वहन करते-करते वैवाहिक जीवन संघर्षपूर्ण प्रतीत होने लगता है। इसी अवस्था में वह अपनी दोनों भूमिकाओं का उचित सन्तुलन बना पाना ही समायोजन है।

समायोजन के अभाव में कामकाजी महिला अपना अस्तित्व समाप्त कर देती है और जहाँ उनका समायोजन हो जाता है वहाँ महिलायें अपनी दोनों भूमिकाओं का सुचारु रूप से संचालन कर पाती हैं।

परिवार व समाज की आधारशिला 'स्त्री' को परमात्मा की एक अद्भुत कृति माना जाता है। भारतीय समाज व्यवस्था में जहाँ महिलाओं से सम्बन्धित धार्मिक पक्ष के रूप में इसे लक्ष्मी, सरस्वती, नारायणी व देवी का स्वरूप मानता है। वहीं दूसरी ओर एक बहुत बड़ा भाग अबला, असहाय व निर्बल भी मानता है।

समाज का यह विचार समाज की प्रारम्भिक अवस्था से वर्तमान तक बनी हुई है। यही विचार कामकाजी महिलाओं के सम्बन्ध में समाज रखता है। जहाँ समाज का बहुत बड़ा भाग कामकाजी महिलाओं को प्रभावशाली तथा सशक्त मानता है वहीं एक रूढ़िवादी सामाजिक विचारधारा इसे घृणित भी मानता रहा है।

जिस सामाजिक परिवेश में कामकाजी महिलाओं को अच्छा माना जाता है। वहाँ की महिलाओं का नौकरी के साथ पारिवारिक व सामाजिक समायोजन सरल हो जाता है तथा विपरीत परिस्थिति में परिवार व समाज उसका साथ देता है। समय-समय पर उचित मार्गदर्शन एवं सहायता प्राप्त होने के कारण इस परिवेश में कामकाजी महिलाओं का जीवन अधिक कठिनाईयों भरा नहीं होता है। उन्हें समायोजन करने में आसानी होती है और इस तरह समाज व परिवार की अन्य आने वाली पीढ़ियों को भी इससे उचित प्रेरणा एवं मार्गदर्शन मिलता है।

इसके विपरीत समाज का एक बहुत बड़ा भाग आज भी महिलाओं का कामकाजी होना उचित नहीं मानता। ऐसी विचारधारा रखने वाला परिवार व समाज महिलाओं के जीवन की सीमा घर-परिवार तक ही सीमित रखना चाहते हैं। उनके अनुसार स्त्री घर की चाहर दीवारी में रहना ही परिवार का नैतिक सिद्धान्त है। घर की दहलीज लौंघकर बाहर नौकरी या कामकाज करना परिवार व समाज की प्रतिष्ठा के विरुद्ध माना जाता है।

इस प्रकार की रूढ़िवादी सोच रखने वाला परिवार व समाज केवल और केवल महिलाओं को भोग-विलास का साधन व परिवार बसाने के लिए एक आवश्यक वस्तु मानता है। इनके दृष्टिकोण में स्त्रियों की सोच-समझ व प्रतिभाओं का कोई अस्तित्व नहीं होता उसे चूल्हा-चौका सम्भालने तक ही सीमित रखना परिवार व समाज के हित में समझा जाता है।

* शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग, मानसरोवर ग्लोबल विश्वविद्यालय, सीहोर, मध्य प्रदेश

** शोध निर्देशक (प्रोफेसर), समाजशास्त्र विभाग, मानसरोवर ग्लोबल विश्वविद्यालय, सीहोर मध्य प्रदेश

ऐसे समाजों में नारी की स्थिति अधिकांशतः दयनीय होती है। ऐसी दशा में महिलाओं का नौकरी-पेशा होना अपने आप में चुनौतीपूर्ण और संघर्षमयी होता है। रूढ़िवादी विचारधारा व जीवन-शैली उनके कामकाजी जीवन एवं पारिवारिक, सामाजिक जीवन का समायोजन कर पाना कठिन होता है। समाज व परिवार सदैव उससे कुछ और अपेक्षाएँ रखता है तथा नौकरी पेशे में उसकी माँग कुछ और कहती है।

महिलाएँ ऐसी प्रस्थिति में दो भागों में मानसिक तथा सामाजिक आधार पर विभाजित हो जाती हैं। उनको चुनौतियों व परिस्थितियों का सामना करना बहुत ही कठिन हो जाता है। ऐसे परिवेश में कामकाजी महिलाओं का जीवन सरल और सफल नहीं होता वह प्रत्येक समय शारीरिक, मानसिक व सामाजिक रूप से असाहाय होकर प्रताड़ित होती है। उसका वैवाहिक जीवन भी संघर्षपूर्ण होता है।

इस प्रकार से यदि देखा जाय तो कामकाजी महिलाओं के सामाजिक व पारिवारिक समायोजन में उसके परिवेश या सामाजिक व पारिवारिक वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता है। समाजशास्त्रीय अध्ययन यह बताने का प्रयत्न करता है कि कामकाजी महिलाएँ परिवार व समाज के साथ समन्वय किस प्रकार से बनाती रही हैं और उनको इसके लिए किन-किन चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक व सामाजिक समायोजन का समाजशास्त्रीय अध्ययन एक महत्वपूर्ण विषय है। यह महिलाओं के संघर्षपूर्ण जीवन को समझने में सहयोग तथा दृष्टिकोण प्रदान करता है। साथ ही कामकाजी महिलाओं की दोहरी भूमिका उनके जीवन की पारिवारिक व सामाजिक चुनौतियाँ, कार्यशैली जीवन (नौकरी अथवा पेशा) एवं दैनिक जीवन में सन्तुलन का को स्पष्ट करता है। साथ ही समायोजन के उचित प्रकारों को भी दर्शाता है।

प्राचीन समय से वर्तमान समय तक सूक्ष्मता से नारी का समाज में अस्तित्व और स्थिति पर दृष्टिपात किया जाय तो हम पाते हैं कि युग के सभी पड़ाव पर समाज का एक पक्ष यदि नारी को दैवीय स्वरूप मानता है तो वहीं दूसरी तरफ इसे 'नर्क का द्वार' जैसे शब्दों से सम्बोधित भी किया जाता रहा है। नारीवादी सोच को लेकर समाज सदैव ही दो वर्गों में विभक्त रहा है।

प्रथम वर्ग में समाज का वह भाग आता है जो नारी को ईश्वर की अद्भुत कृति मानता है। इसे समाज में समानता के अधिकार का भागी बनाना चाहता है। पुरुष की बराबरी में लाकर खड़ा करना चाहता है। अधिकांशतः इस तरह का वर्ग शिक्षित व शहरी समाज में देखने को मिलता है।

इस वर्ग में महिला को अपने भाव व्यक्त करने, अपनी इच्छानुसार जीवन जीने एवं आजादी से जीवन व्यतीत करने की स्वतन्त्रता देता है। इसके ठीक विपरीत समाज का एक बहुत बड़ा भाग नारीवादी विचारधारा का विरोध कर 'रूढ़िवादी' व पुरुष की समाज में प्रधानता को ही स्वीकार करते हैं। ऐसा परिवार व समाज चाहते हैं। जहाँ पुरुष ही सर्वेसर्वा हो। स्त्री को केवल भोग-विलास का साधन मात्र माना जाय। इसके साथ बच्चे उत्पन्न करने वाली विधा की तरह व प्रत्येक कार्य समय पर पूर्ण करने वाले यंत्र की भांति निर्जीव वस्तु मानते हैं।

समाज का यह भाग रूढ़िवादी परम्पराओं को सर्वोपरि व पुरुष प्रधान सोच वाला होता है। समाज के इसी भाग में महिलाओं का जीवन नर्क के समान यातनाओं से भरा होता है।

कामकाजी महिलाओं के सम्बन्ध में किये गये अध्ययन यह स्पष्ट करते हैं कि द्वितीय प्रकार की सोच रखने वाले समाज में महिलाओं का जीवन अधिक संघर्षपूर्ण होता है। घर की सीमाओं को लाँघकर नौकरी या पेशे पर जाना व्यावसायिक और व्यक्तिगत जीवन का उचित समायोजन कर पाना उनके लिए अधिक चुनौतीपूर्ण एवं संघर्षमयी होता है। समाज का बहुत बड़ा भाग इस तरह की प्रगतिवादी विचारधारा का पोषक है।

अधिकांशतः इस प्रकार की सोच रखने वाला समाज व परिवार सदैव ही पिछड़ेपन को प्रदर्शित करते हैं और महिला उत्पीड़न के मामलों में भी यह अग्रणी होता है। यहाँ का परिवेश महिलाओं के जीवन को असहज बना देता है। उनका वैवाहिक जीवन अति संघर्षपूर्ण हो जाता है। कामकाजी महिलाओं को सामाजिक एवं पारिवारिक समायोजन करने में बहुत अधिक कष्टों का सामना करना पड़ता है।

यही कारण है कि रूढ़िवादी समाज में महिलाओं का जीवन स्तर अथक प्रयासों के पश्चात भी निम्न स्तरीय बना हुआ है। इन सब में सबसे अधिक प्रभावी बात यह है कि इसका प्रमुख कारण स्वयं महिला ही होती है। इसके दो प्रकार होते हैं—

1. वह महिलायें जो सबकुछ जानते हुए भी चुप बैठी रहती हैं। सभी की यातना सहती एवं भाग्य को कोसती हुई इन परिस्थितियों से बाहर निकलने का प्रयास नहीं करती हैं और इसी प्रकार वह जीवन भर दासी बनकर रह जाती हैं।
2. दूसरे प्रकार की वह महिलायें भी इसकी भागीदार होती हैं, जो खोखले रीति-रिवाजों को अधिक अहमियत देकर अपनी झूठी शान व दिखावे के प्रलोभन में अपने घर-परिवार की बहु-बेटियों को घर की चारदीवारी के बाहर नहीं निकलने देती। या नौकरी, कामकाज आदि के लिए प्रोत्साहित नहीं करती हैं।

समाज के अन्य भाग पर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होता है कि समाज का बहुत बड़ा भाग आधुनिक समय में महिला स्वतन्त्रता व महिला सशक्तिकरण को लेकर जागरूक है। जो सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महिलाओं को बढ़-चढ़कर भाग लेने के लिए प्रोत्साहित करता है। महिलाओं को पुरुष की अर्द्धांगिनी स्वीकारता है साथ ही आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनने में प्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्रदान करता है।

इस प्रकार के समाज में महिलायें स्वतन्त्र रूप से नौकरी करती हैं। घर से बाहर जाकर किसी भी प्रकार का कामकाज कर पाती हैं। ऐसे परिवेश में महिलाओं का जीवन आनन्दमय व सुखमयी होता है। वह स्वतंत्र होकर अपनी सामाजिक व व्यक्तिगत जीवन को व्यतीत कर पाती हैं। परिवार व समाज के लिए कुछ कर पाती हैं तथा व्यक्तिगत जीवन एवं व्यावसायिक (कामकाजी) जीवन में उचित समायोजन बैठा पाती हैं।

वर्तमान समय में इस तरह के परिवेश होने के बावजूद अर्थात् कामकाजी महिलाओं के अनुकूल वातावरण होने के बावजूद भी वह अपने कामकाजी (व्यावसायिक) पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में उचित समायोजन नहीं बैठा पाती हैं। इसका एक कारण महिलाओं के प्रति बढ़ते हुए अपराध है। आज आधुनिकता के नाम पर बढ़ती हुई अश्लीलता ने कामकाजी महिलाओं का जीवन संघर्षमयी बना रहता है।

कामकाजी महिलायें :- महिला शक्ति का वह भाग है जो घरों की चारदीवारी के साथ ही साथ बाहर निकल कर किसी भी तरह की आर्थिक गतिविधियों में संलग्न होती है। जो जीविकोपार्जन में पुरुषों का हाथ बँटा रही हैं।

वर्तमान समय में लगभग 75 प्रतिशत से अधिक महिला शक्ति किसी न किसी प्रकार से आर्थिक क्षेत्रों के आर्थिक गतिविधियों में संलग्न है। वर्तमान समय में कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसमें नारी की संलग्नता नहीं है अर्थात् प्रत्येक क्षेत्र में नारी पुरुषों के समान ही कार्य कर रही है। यहाँ यह कहना तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं होगा कि आधुनिक नारी प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के समान कार्य कर रही है।

21वीं सदी में महिलायें सभी क्षेत्रों में भी अपनी महत्ता को दर्शा रही हैं, जिन क्षेत्रों में सदियों से पुरुषों का एकाधिकार रहा है। वहाँ भी वर्तमान समय में सभी क्षेत्रों के साथ ही अति संवेदनशील क्षेत्र सुरक्षा विभाग में भी अपनी सराहनीय भागीदारी निभा रही हैं।

प्रत्येक महिला अपनी क्षमता के अनुरूप सभी क्षेत्रों में किसी न किसी प्रकार से आर्थिक गतिविधियों में भाग ले रही हैं, ऐसी महिला को कामकाजी महिला कहा जाता है।

यह महिलायें दोहरी भूमिका में होती हैं। एक तरफ तो परिवार व समाज के प्रति अपनी भूमिका निभाती हैं। वहीं दूसरी तरफ अपनी नौकरी, व्यवसाय या रोजगार के प्रति अपनी सजग भूमिका निभाती हैं।

कामकाजी महिलाओं की समस्यायें :- भारत जैसे सांस्कृतिक मूल्यों की प्रधानता रखने वाले देश व रूढ़िवादी समाज की अपनी परम्पराओं की आड़ में महिलाओं को अनेक प्रकार की कुण्ठाओं, प्रताड़नाओं और विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है।

खोखले रीति-रिवाज, पुरुष प्रधान सोच, सामाजिक दबाव और महिलाओं के प्रति समाज में प्रचलित पूर्वाग्रहों के चलते अनेक महिलाओं का भविष्य अंधकारमय हो जाता रहा है। कुछ महिलायें अपने आपको मजबूती से सम्भालकर कामकाजी जीवन में प्रवेश कर भी लेती थीं तो लैंगिक भेद-भाव, कार्य जीवन सन्तुलन, यौन उत्पीड़न, असमान वेतन, कार्य स्थल पर शोषण आदि समस्याओं की विकट स्थिति उत्पन्न हो जाती रही है।

इसके साथ मातृत्व अवकाश व भविष्य में उनके कार्य स्थगन के अनेक कारण उनके पेशेवर विकास को प्रभावित करते सकते हैं। कामकाजी महिलाओं के व्यक्तिगत जीवन व पेशेवर जीवन को सम्मिलित रूप से प्रभावित करने वाली कुछ प्रमुख समस्याओं को निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है—

सामाजिक पूर्वाग्रह एवं सामाजिक दबाव :- समाज में महिला वर्ग को लेकर सदियों से यही विचारधारा और पूर्वाग्रह व्याप्त है कि वह केवल पुरुष की सहयोगी मात्र है। उसका कार्य बच्चों को जन्म देना, उनका

लालन-पालन करना, घर के सभी सदस्यों की सेवा करना व घर के कामकाज करना जो निःशुल्क होंगे। महिला का जीवन घर की चाहरदीवारी के अन्दर ही होना चाहिए। इसी में परिवार व समाज की सैद्धान्तिक सीमा निर्धारित रहती है।

इसके विपरीत यदि कोई महिला घर की चाहरदीवारी लाँघकर कोई आर्थिक गतिविधि करे तो वह समाज के नैतिक सिद्धान्तों के विरुद्ध माना जाता रहा है और इसका सीधा प्रभाव उस महिला के वैवाहिक व पारिवारिक जीवन पर पड़ता था। उसका आजीविका इसी सामाजिक दबाव व पूर्वाग्रहों से प्रभावित होकर समाप्त हो जाता रहा है।

आधुनिकता के वर्तमान दौर में भी अधिकांश महिलायें इस समस्या का सामना करने पर विवश हैं। सामाजिक दिखावे व आडम्बरों से भरी सामाजिक व्यवस्थाओं में महिलाओं का आजीविका मिशन और महात्वाकांक्षा से भरा गुणवत्ता युक्त जीवन समाप्त होने लगता है। इसी तरह यह कामकाजी महिलाओं के लिए एक समस्या बनी हुई है।

लैंगिक विभेद :- भारतीय समाज हमेशा से ही पुरुष प्रधान समाज रहा है। यहाँ महिला का सम्पूर्ण जीवन पुरुष की इच्छा व आदर्शों के अनुसार ही व्यतीत होता है। बाल्यकाल में पिता के अनुसार, युवावस्था में विवाह के पश्चात् पति के अनुसार और वृद्धावस्था में बेटे के अनुसार जीना होता है। इस लैंगिक भेद-भाव के मध्य यदि कोई महिला अपना जीवन स्वतंत्र होकर स्वयं के अनुसार जीना भी चाहे अथवा आर्थिक आधार पर कामकाजी महिला बनना पसन्द भी करे तो उसे घर का और कार्यक्षेत्र अथवा कार्यस्थल पर दोनों स्थानों का उचित सामन्जस्य बैठाना अत्यन्त कठिन होता है। यह सामन्जस्य उसके लिए जीवनपर्यन्त चुनौतीपूर्ण होता है।

यौन उत्पीड़न :- कामकाजी महिलाओं का कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न होना भी वर्तमान समय में एक गम्भीर समस्या बना हुआ है। इससे प्रभावित महिलायें स्वयं तो कमजोर होती हैं साथ ही साथ यह समाज व परिवार की अन्य महिलाओं की निराशा व हार का कारण भी बन जाती है।

कार्य और जीवन सन्तुलन :- कामकाजी महिलाओं को कार्यालय के साथ ही साथ घर के काम भी पूरी जिम्मेदारी के साथ निभाना होता है और यह अपने आप में चुनौतीपूर्ण है।

मानसिक एवं शारीरिक थकावट :- अधिकांशतः प्रत्येक कामकाजी महिला की यह समस्या होती है कि वह व्यक्तिगत एवं पारिवारिक, सामाजिक जीवन में समायोजन बैठाते-बैठाते शारीरिक व मानसिक रूप से थक जाती हैं। जीवन के सभी क्षेत्र में उसे थकावट व हताशा का सामना करना पड़ता है।

कामकाजी महिला के कार्य प्रभावितता की स्थिति में वह और अधिक इस समस्या से ग्रस्त होती है। वह घर के साथ ही साथ कार्यस्थल की जिम्मेदारियों को एक साथ वहन करती है जिसमें उसे अधिकांशतः शारीरिक व मानसिक थकावट का सामना करना पड़ता है।

तरक्की व आजीविका वृद्धि :- कामकाजी महिलाओं को अपने आजीविका की राह में तरक्की व आजीविका वृद्धि के लिए लगने वाला अधिक समय एक बहुत बड़ी समस्या और चुनौती होती है।

मातृत्व अवकाश एवं आजीविका अवरोध :- कामकाजी महिलाओं को विवाह के पश्चात् अपने बच्चों के लालन-पालन से लेकर उनके विकास से सम्बन्धित भविष्य में अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन्हें समाधानित करने के लिए अनेक बार उन्हें मातृत्व अवकाश एवं आजीविका अवरोध की आवश्यकता होती है, जिसका सीधा प्रभाव उनकी कार्यशैली व व्यावसायिक गिरावट का के रूप में दिखलाई पड़ता है।

कामकाजी महिलाओं की समस्याओं के समाधान :- कामकाजी महिलाओं की समस्याओं का समाधान करने हेतु अनेक महत्वपूर्ण उपायों को अपनाया जा सकता है -

1. कामकाजी महिलाओं के साथ कार्यस्थल पर हो रहे लैंगिक भेद-भाव को समाप्त कर उन्हें समान काम का समान वेतन दिया जाय साथ ही पारिवारिक व सामाजिक जीवन में भी पुरुषों के समान ही अधिकार दिया जाय।
2. कामकाजी महिलाओं को सामाजिक समर्थन व सहयोग प्राप्त होना भी उनकी समस्याओं का समाधान करने हेतु उत्तम विकल्प और माध्यम हो सकता है।
3. कार्य जीवन में सन्तुलन स्थापित करके भी कामकाजी महिलाओं की समस्याओं को कुछ हद तक कम किया जा सकता है। इसमें घर से कार्य करने की सुविधा, मातृत्व अवकाश (संवैतनिक) कार्य के घण्टों में शिथिलता आदि के माध्यम से कामकाजी महिलाओं के कार्य जीवन में सन्तुलन स्थापित करना सहज होगा।

4. कामकाजी महिलाओं के लिए सुरक्षित कार्यस्थल या अनुकूल वातावरण स्थापित करके भी इनकी समस्याओं का समाधान सम्भव है। इससे अन्य महिलाओं को भी प्रेरणा व सहयोग प्राप्त हो सकेगा।
5. कामकाजी महिलाओं के लिए कुशल प्रशिक्षण एवं कौशल विकास की व्यवस्था करके उन्हें इस कार्य या नौकरी पेशे में अधिक कुशल व अनुभवी बनाकर उन्हें सहायता दी जा सकती है और इसी तरह उनकी समस्याओं का समाधान भी सम्भव हो सकता है।
6. कामकाजी महिलाओं के कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न से सुरक्षा करके भी उनकी रुचि व कार्यक्षमता का बढ़ाया जा सकता है। साथ ही अन्य महिलाओं को भी इससे उस कार्य को चुनने व करने में आसानी होगी।
7. तरक्की व आजीविका विकास से सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति करके भी कामकाजी महिलाओं की समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।
8. महिलाओं को स्वरुचि अनुसार कार्य को करने की छूट व आरक्षण प्रदान करके भी कामकाजी महिलाओं की अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।
9. मानसिक स्वास्थ्य सुविधायें उपलब्ध करवाकर भी कामकाजी महिलाओं के उत्तम स्वास्थ्य की व्यवस्था की जा सकती है जिससे उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होगी। साथ ही पारिवारिक व सामाजिक समायोजन में भी सहायता मिल सकती है।
10. कामकाजी महिलाओं के कार्य समय को अनुकूल करके भी अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। साथ ही महिलाओं के जीवन स्तर में भी सुधार किया जा सकता है।

इस प्रकार कामकाजी महिलाओं की समस्याओं का समाधान करते हुए उनकी कार्यक्षमता को बढ़ाया जा सकता है।

कामकाजी महिलाओं का जीवन सदैव ही दोहरी भूमिका में होता है। उन्हें घर के साथ ही अपने कार्यस्थल (नौकरी) को भी सम्भालना होता है। हर जिम्मेदारी को बखूबी निभाने एवं व्यक्तिगत, सामाजिक, पारिवारिक व व्यावसायिक परिस्थितियों व आवश्यकताओं का उचित समायोजन करना अति आवश्यक होता है।

कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक एवं सामाजिक समायोजन का समाजशास्त्रीय अध्ययन करें तो हमें ज्ञात होता है कि इसका उचित समायोजन एक सीमा तक परिवार व समाज के हाथ में होता है तथा महिलायें जिस परिवेश में वहाँ की अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है।

अतः अनुकूल वातावरण से कामकाजी महिलाओं के पारिवारिक व सामाजिक समायोजन में आवश्यक सुधार किया जा सकता है। इसी में घर, परिवार समाज का विकास समृद्धि के रूप में निहित होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची —

1. रानी कल 1976 रोल कनफिलक्ट इन वर्किंग वुमन चेतन पब्लिकेशन नई दिल्ली।
2. सीकर एंड स्मिथ 1962 मैरिड वूमेन वर्किंग जॉर्ज एलेन एंड एडमिन पब्लिकेशंस लंदन।
3. नंदा बी आर 1972 इंडियन वूमेन विकास पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली।
4. परमार दुर्गा 1982 श्रमजीवी महिलाएं और पारिवारिक संगठन साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा उत्तर प्रदेश।
5. सेन गुप्ता पी 1960 वूमेन वर्क इन इंडिया एशिया पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली।
6. कपूर प्रमिला 1970 मैरिज एंड वर्किंग वुमन इन इंडिया विकास पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली।
7. नीरा देसाई 1982 भारतीय समाज में नई मैकमिलन पब्लिकेशन नई दिल्ली।
8. राधा कुमार सन 2000 भारत में स्त्री संघर्ष का इतिहास अर्जुन पब्लिकेशन नई दिल्ली।
9. बोहरा आशा रानी 1986 भारतीय नारी अस्मिता और अधिकार प्रथम संस्करण नई दिल्ली।



ग्रामीण सशक्तिकरण में डिजिटल मीडिया की भूमिका : एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

शालिनी यादव*

डॉ. अशोक कुमार श्रीवास्तव**

डिजिटल मीडिया के माध्यम से आज का युग यन्त्रीकरण का युग बन चुका है। यह भी सार्वभौमिक व सर्वविदित सत्य है कि मानव की अधिकांश गतिविधियाँ आज डिजिटल मीडिया के माध्यम से ही संचालित हो रही हैं। एआई ने हर क्षेत्र में अपना परचम लहरा दिया है। इसके माध्यम से अनेक सुविधायें व लाभ मिले हैं, किन्तु इसका अर्थ यह बिल्कुल भी नहीं है कि डिजिटल मीडिया ने मानव समाज को, उसकी संवेदनाओं को विशेषताओं को बहुत अधिक क्षतिग्रस्त किया है। इसके कारण मानव में कृत्रिमता आ गयी है। वह पूर्ण रूप से गुलामी की जंजीरों में बँधता जा रहा है। डिजिटल मीडिया को मानव जाने-अनजाने अपने जीवन का अहम हिस्सा बना चुका है। वह इतना बँध चुका है कि डिजिटल मीडिया के आगे घर-परिवार, रिश्ते-नाते और यहाँ तक कि सेहत को भी द्वितीयक बना दिया है। समाज में डिजिटल विभाजन हो गया है। घर-परिवार में सामूहिकता के स्थान पर व्यक्तिवादिता आ गयी है। हर व्यक्ति कहीं न कहीं अकेलापन महसूस करने लगा है और डिजिटल मीडिया को ही अपना साथी समझने लगा है।

भारतीय सन्दर्भ में बात की जाय तो डिजिटल मीडिया का आधुनिक समय में दुरुपयोग हो रहा है यह चाहे नगरीय क्षेत्र हो या ग्रामीण क्षेत्र रहा है। व्यक्ति अपनी प्रगति के लिए इसका प्रयोग कम कर पा रहा है उसके स्थान पर यह विघटन व अवनति का कारण भी बनते देखा जा रहा है।

किन्तु यहाँ यह कहना भी अनुचित नहीं होगा कि डिजिटल मीडिया के कारण समाज में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है। वह नकारात्मक भी किन्तु सकारात्मकता कहीं अधिक है। इसके पूर्ण लाभ के लिए कुछ जागरूकता, आवश्यक ज्ञान, सीमाओं का अहसास और इस्तेमाल का सही तरीका समय व मात्रा का विशेष ध्यान रखना अति आवश्यक है।

डिजिटल मीडिया का इतिहास :- डिजिटल मीडिया का इतिहास बहुत ज्यादा पुराना नहीं है। कुछ सूत्रों के अनुसार 18वीं व 19वीं शताब्दी में मशीनों द्वारा सूचना व जानकारी को स्टोर करने के प्रोसेस करने व साझा करने के विचार शुरू हुए। इन विचारों में चार्ल्स बैबेज एवं एडा लवलेज के विचारों उनकी अवधारणाओं को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इसी के परिणामस्वरूप बीसवीं सदी के मध्य में डिजिटल मीडिया का प्रादुर्भाव माना जाता है। इसी के साथ धीरे-धीरे कम्प्यूटर का विकास होता चला गया और इण्टरनेट, ई-मेल का विस्तार हुआ। इसी तरह धीरे-धीरे सोशल मीडिया ऑरकुट, माईस्पेस और फेसबुक का विकास हुआ। वर्तमान समय में ई-शासन, ई-व्यापार, ई-शिक्षा, ई-चिकित्सा व मनोरंजन आदि के कारण डिजिटल मीडिया आज समाज का अभिन्न अंग बन चुका है।

कुछ सूत्रों की माने तो डिजिटल मीडिया की शुरुआत 1800 ई. के दशक से मानी जाती है। जब मशीनों का आविष्कार हुआ व मानव-पठनीय कोड की अवधारणा शुरू हुई। इसकी जड़ें वन्नेवर बुश के एज वी मे थिंक में मानी जाती है किन्तु इसका विकास कम्प्यूटर, इण्टरनेट और मोबाइल जैसे उपकरणों के आने से अधिक हुआ है। वर्तमान में एआई में इसे और अधिक रफ्तार दी है।

डिजिटल मीडिया का विकासक्रम :- मशीन-पठनीय कोड की अवधारणा से शुरू होकर डिजिटल मीडिया का निरन्तर विकास होता आया है। 1800 ई. के दशक से प्रारम्भ होकर वर्तमान तक के सफर में अनेक उतार-चढ़ाव आये हैं, किन्तु यह निरन्तर अनवरत रूप से विकसित होने लगा। शुरुआती चरण में 1980 के दशक में मल्टी मीडिया प्रौद्योगिकी की अवधारणाओं को मूर्त रूप मिलने लगा। इस समय छवियाँ, ऑडियो/वीडियो व कम्प्यूटर पाठ आदि को संसाधित करना सम्भव हो गया। इसी दशक में डिजिटल ऑडियो का विकास शुरू हो गया, जिसमें ऑडियो प्रारूप शैलॉक एलपी और आगे चलकर कैसेट टेप का विकसित रूप सामने आया।

* शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग, मानसरोवर ग्लोबल विश्वविद्यालय, सीहोर मध्य प्रदेश

** शोध निर्देशक (प्रोफेसर), समाजशास्त्र विभाग, मानसरोवर ग्लोबल विश्वविद्यालय, सीहोर मध्य प्रदेश

वर्ष 1990 का दशक इण्टरनेट के उदभव का दशक माना जाता है। इण्टरनेट के कारण डिजिटल मीडिया सम्पूर्ण समाज में छा गया। अनगीनत गतिविधियाँ ऑफलाइन से ऑनलाइन की जाने लगी। इससे समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। डिजिटल मीडिया में वर्ष 2000 का दशक स्मार्ट फोन व सोशल मीडिया का विस्तार व वृद्धि का समय माना जाता है। इसी के साथ समाज में मोबाइल का उपयोग बढ़ा और लगभग देश व विश्व के कोने-कोने से लोग आपस में जुड़े। वर्तमान समय में आईसी व एआई के साथ जुड़कर और अधिक विकसित रूप उभरकर सामने आया है।

डिजिटल मीडिया और सामाजिक परिवर्तन :- डिजिटल मीडिया इस युग का सबसे बड़ा आविष्कार है। इससे सम्पूर्ण समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। समाज का कोई भी अंग इससे अछूता नहीं रहा है। यह सामाजिक परिवर्तन का बहुत ही शक्तिशाली उपकरण है, जिसके प्रभाव से समाज में जन-जागरूकता, शिक्षा का विस्तार, नागरिक जुड़ाव, सूचनाओं का प्रचार-प्रसार व तकनीकी ज्ञान का विस्तार आदि सम्भव हो सका है।

डिजिटल मीडिया के सामाजिक परिवर्तनकारी पहलुओं को हम निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं।

1. डिजिटल मीडिया से जुड़कर समाज में जागरूकता आयी है। आज इसके माध्यम से हर व्यक्ति किसी न किसी तरह सही-गलत से वाकिफ होकर उचित समाधान तक पहुँचने की हिम्मत रखता है।
2. शिक्षा का प्रसार व आसान पहुँच भी डिजिटल मीडिया के माध्यम से ही सम्भव हो सकी है। आज व्यक्ति दूरस्थ क्षेत्रों के किसी भी कोने में बैठकर मूक, स्वयं, स्वयंप्रभा जैसे ऑनलाइन माध्यमों से अपनी रुचि के अनुसार किसी भी क्षेत्र में शिक्षा ग्रहण कर सकता है।
3. डिजिटल मीडिया के प्रभाव से समाज में व्यवसायिक व व्यापारिक क्षेत्रों में भी अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। आज ऑनलाइन के माध्यम से ई-व्यापार, ई-वाणिज्य, ई-शॉपिंग आदि करना सम्भव हो सका है।
4. इसके कारण समाज में चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें आसान हो गयी हैं। आज अपनी किसी भी बीमारी पर व्यक्ति अधिकांशतः जानकारी स्वयं ऑनलाइन माध्यमों से जुटाकर उसका उचित समाधान व इलाज हेतु उचित स्थान का चुनाव आसानी से कर लेता है। इतना ही नहीं चिकित्सा केन्द्रों पर भी डिजिटल माध्यमों के सहारे ही अनेक प्रकार की चिकित्सा सुविधाएँ निर्भर रहने लगी हैं।
5. डिजिटल मीडिया के आगमन व विस्तार से समाज में मनोरंजन के साधनों में भी परिवर्तन आया है। आज अधिकांश व्यक्ति अपना अधिकतर समय डिजिटल मीडिया के साथ ही व्यतीत करते हैं।

डिजिटल मीडिया का वर्तमान स्वरूप :- डिजिटल मीडिया का वर्तमान स्वरूप काफी विस्तृत हो चुका है। आज हर भाग का प्रयोग विकसित रूप में होने लगा है जो व्यक्ति की सुविधा के अनुकूल हो। चाहे वह डिजिटल उपकरण हो, स्मार्ट फोन हो, डिजिटल कैमरा हो, मनोरंजन के साधन हों अथवा चिकित्सा सुविधाओं के डिजिटल माध्यम। हर तरफ से डिजिटल मीडिया समाज का अभिन्न अंग बनता जा रहा है।

वर्तमान समय में डिजिटल मीडिया के माध्यम से व्यक्ति सक्रिय हो गया है। ग्रामीण परिवेश के किसी भी कोने का विवरण हो वह सम्पूर्ण संसार की जानकारी रखता है। इतना ही नहीं इसके उपयोग तथा माध्यम से भविष्य की समस्याओं का पूर्वानुमान लगाने में भी सहयोग प्राप्त हो रहा है।

आपदा के समय डिजिटल मीडिया के माध्यम से व्यक्ति व समाज की सुरक्षा के लिए सहायनीय सहयोग प्राप्त हो सकता है। इसके माध्यम से विपदा या दुर्घटना की जानकारी मिनटों में दूर-दूर तक फैल जाती है। राहत कार्य के लिए व्यवस्था कर पाना आसान हो जाता है। साथ ही अन्य सम्भावित क्षेत्रों में विपदा निवारण की व उससे बचने की पूर्व में ही तैयारी हो जाती है। इसी तरह डिजिटल मीडिया, बचाव, निपटारण, संरक्षण व पुनर्वास जैसे क्षेत्रों में सहायनीय कार्य करता है।

डिजिटल मीडिया के माध्यम से वर्तमान समय में चिकित्सा सुविधाओं का सुदूर स्थानों तक पहुँच पाना सम्भव हो सका है। चलित अस्पताल जैसे उन्नत साधनों के कारण वर्तमान में चिकित्सा सुविधाएँ भी सुलभ व सहज हो चुकी हैं। इतना ही नहीं चिकित्सा के लिए अनेक डिजिटल मशीनों व उपकरणों का ही सहारा लिया जाता है।

शिक्षा के क्षेत्र में भी वर्तमान समय का डिजिटल मीडिया अभिन्न कड़ी बनता जा रहा है। शिक्षण की अधिकांश गतिविधियाँ वर्तमान समय की जरूरत हैं। ऐसा हर व्यक्ति निरक्षर माना जाता है, जो कम्प्यूटर, इण्टरनेट व मोबाइल का उपयोग नहीं जानता, इससे अछूता है।

वर्तमान समय में लगभग हर क्षेत्र में शिक्षण गतिविधियाँ बहुत हद तक डिजिटल मीडिया पर ही निर्भर करती हैं। मूक, स्वयं, स्वयंप्रभा आदि इसके जीवन्त उदाहरण हैं।

वर्तमान में लोग खरीदी-बिक्री, वस्तुओं का आदान-प्रदान, ई-शासन, ई-व्यापार, ई-वाणिज्य व ऑनलाइन प्रशिक्षण के माध्यम से बहुत हद तक समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर पा रहा है और यह सब बहुत ही सहज व शान्तिपूर्ण तरह से सम्भव होता है।

डिजिटल मीडिया वर्तमान में समाज की अनिवार्य आवश्यकताओं में शामिल हो चुका है। आज व्यक्ति सोशल मीडिया के बिना एक दिन भी नहीं रह पाते हैं। वर्तमान में समाज की मूलभूत आवश्यकता बनती जा रही है।

डिजिटल मीडिया का प्रभाव :- डिजिटल मीडिया आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है और वहीं दूसरी तरफ यह व्यक्ति की कमजोरी भी बनता जा रहा है। डिजिटल मीडिया कितना लाभदायक है और कितना हानिकारक इसका प्रभाव तो केवल और केवल प्रयोगकर्ता की गतिविधि व रुचि पर ही निर्भर करता है।

व्यक्ति अगर सचेत तरीके से वक्त व आवश्यकता के अनुसार डिजिटल मीडिया का विशेषकर सोशल मीडिया का) सीमाओं को ध्यान में रखकर इसका प्रयोग करे तो यह वास्तव में समाज के लिए वरदान है। इसका प्रयोग व्यक्ति के जीवन में अनेक सुख-सुविधाओं के साथ ही उन्नति व प्रगति के अनेक रास्ते खोल देता है। सोशल मीडिया व इण्टरनेट, मोबाइल के माध्यम से अनेक महत्वपूर्ण कार्य पलक झपकते ही हो जाते हैं। तो वहीं दूसरी ओर आवश्यक सावधानी व सतर्कता के बिना किया गया कार्य या प्रयोग पलक झपकते ही व्यक्ति को पूर्णतः बर्बाद भी कर सकता है। डिजिटल मीडिया के प्रभावों को हम अग्रांकित कुछ बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं।

डिजिटल मीडिया का समाज पर प्रभाव की बात की जाय तो इसका प्रतिशत सर्वाधिक रूप से सकारात्मक ही है। आज डिजिटल मीडिया के विभिन्न अंगों सोशल मीडिया, इण्टरनेट, मोबाइल और कम्प्यूटर के माध्यम से व्यक्ति दिन दुनिया की खबर रख पाता है। हजारों मील दूर बैठकर भी रिश्ते निभाना सम्भव हो सकता है। समय के अभाव में बिखर रहे घर, परिवार व रिश्तों को इसके माध्यम से संजोकर रखा जा सकता है।

सोशल मीडिया के माध्यम से व्यक्ति हर छोटी-बड़ी घटना से सचेत रह सकता है। इसी तरह समाज में जागरूकता का संचार होता है। व्यक्ति हर परिस्थिति में अपनी दुःख, खुशियाँ, परेशानियाँ, जरूरतें अथवा विशेषताओं को सबके साथ बाँट सकते हैं। विद्यार्थी जीवन में सोशल मीडिया की अहम भूमिका होती है। जब भी विद्यार्थी अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ता है, जब भी किसी असुविधा या शैक्षणिक/व्यावसायिक जीवन में डगमगाता है, सोशल मीडिया का सहारा लेकर सही राह चुन सकता है। अपनी शैक्षणिक यात्रा में उचित मार्ग व रणनीति के उचित मार्गदर्शन व सहायता मिल जाती है।

डिजिटल मीडिया ने उद्योग, व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, अनुसंधान, मनोरंजन, प्रशिक्षण, सुरक्षा एवं सेवा जैसे अनेक महत्वपूर्ण कार्यों के लिए वरदान है।

डिजिटल मीडिया ने समाज को जहाँ एक ओर अनेक सराहनीय लाभ व सुविधाएँ पहुँचायी हैं, वहीं दूसरी ओर अनेक प्रतिकूल प्रभाव भी देखने को मिले हैं। अगर इसके कुछ भागों को छोड़ दिया जाये तो अधिकांशतः सोशल मीडिया, इण्टरनेट, मोबाइल आदि के समाज पर अनेक घातक प्रभाव देखने को मिलते हैं। वास्तविक अर्थ में देखा जाय तो सोशल मीडिया, इण्टरनेट, मोबाइल आदि व्यक्ति की सुख-सुविधाओं के लिए उनकी आवश्यकताओं को सुलभ व सहज तरीके से पूर्ण करने के लिए आविष्कार हुआ है, किन्तु इसका दुरुपयोग करके अपने आप पर इसे हावी करके व्यक्ति स्वयं ही इनका गुलाम बन गया है।

सोशल मीडिया के व मोबाइल इण्टरनेट के बिना आज व्यक्ति का जीवन कठिन हो गया है। व्यक्ति अपना अधिकांश समय इसी के साथ व्यतीत करता है। एक दिन, एक घण्टा भी व्यक्ति सोशल मीडिया, मोबाइल व इण्टरनेट के बिना उनके लिए मुश्किल होता है। इसी तरह व्यक्ति जाने-अनजाने अपने अनमोल जीवन का एक बड़ा भाग सोशल मीडिया के चलते बर्बाद कर रहा है।

सोशल मीडिया के कारण व डिजिटल मीडिया के प्रभाव से आज साईबर अपराध जैसी समाज विरोधी गतिविधियाँ आसानी से की जाती हैं जो समाज की विघटन की ओर ले जाते हैं। सोशल मीडिया के कारण मानव के स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। आज इसके कारण लोगों में नींद की कमी, आँखों की खराबी, स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव जैसी अनेक परिस्थितियों का जन्म हुआ है।

समाज में होड़, फैशन के नाम पर परम्पराओं व अच्छे संस्कारों के स्थान पर बेशर्मी व अश्लील सामग्री का प्रचार-प्रसार सोशल मीडिया की ही देन है। परिवारों का विघटन, समय की बर्बादी, साईबर अपराधों को बढ़ावा, गोपनीयता की कमी, अत्यधिक धन एवं ऊर्जा की बर्बादी आदि अनेक नकारात्मक प्रभाव डिजिटल मीडिया की ही देन है। सोशल मीडिया इनका आधार स्तम्भ है एवं मोबाइल, इण्टरनेट इनका

कार्यवाहक। डिजिटल मीडिया में से समस्त प्रकार की गतिविधियाँ व प्रणालियाँ शामिल होती हैं जो डिजिटल माध्यमों से सम्पन्न होती हैं। इसमें सभी प्रकार की पठन, लेखन व दृश्य सामग्री (पाठ, चित्र, ऑडियो, वीडियो एवं इंटरैक्टिव तत्व) आदि शामिल होती हैं। यह डिजिटल माध्यमों जैसे कम्प्यूटर, मोबाइल आदि के माध्यम से संचालित होती हैं।

डिजिटल मीडिया, डिजिटल डेटा (0-1) बाइनरी कोड पर निर्भर रहता है। यह कम्प्यूटर नेटवर्क व इण्टरनेट पर आधारित रहती है जिसमें मोबाइल एवं सोशल मीडिया प्लेटफार्म, स्ट्रीमिंग सेवाएँ, पॉडकास्ट, वेबसाइट्स आदि शामिल होती हैं।

डिजिटल मीडिया एक प्रकार की अन्तर्दिशाशील प्रणाली है जिसमें उपयोगकर्ता स्वयं सहभागिता की अनुमति देता है। यह एक प्रकार की बहुमुखी प्रतिभा होती है जिसमें चैटिंग, ऑडियो-वीडियो, एनिमेशन आदि सामग्री एक साथ प्रदान कर सकता है। यह डिजिटल प्रारूप पर ही कार्य करता है। यह साफ्टवेयर एवं ऐप्स, इंटरैक्टिव सामग्री, वेबसाइट और ब्लॉग, सोशल मीडिया, ऑडियो-वीडियो आदि के माध्यम से सम्पन्न होता है। डिजिटल मीडिया का प्रमुख लक्ष्य इसके संचार साधनों, मनोरंजन, पहुँच, व्यापार एवं वाणिज्य, ई-प्रशासन, ई-चिकित्सा एवं ज्ञान खोज आदि के लिए किया जाता है।

डिजिटल मीडिया समय की माँग व नवीन आविष्कारों का परिणाम है। प्रारम्भिक समय में मानव अपनी सुख-सुविधाओं को ध्यान में रखकर मशीनों का आविष्कार करता है। यह धीरे-धीरे डिजिटल रूप में रूपान्तरित हो गयी। नित नवीन खोजों, आवश्यकताओं व आविष्कारों के कारण सोशल मीडिया, मोबाइल, इण्टरनेट आदि का समाज में प्रादुर्भाव हुआ। इनका आगमन समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन लेकर आया। यह परिवर्तन हजारों सुख-सुविधाओं व आविष्कारों का कारण बना शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाओं, व्यापार, वाणिज्य, शोध आदि के लिए वरदान साबित हुआ। वहीं दूसरी तरफ सोशल मीडिया, मोबाइल, इण्टरनेट आदि के कारण समाज में अनेक नकारात्मक प्रभाव भी स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

डिजिटल मीडिया का इतिहास ज्यादा पुराना नहीं है, किन्तु जब से उद्भव एवं विकास होना शुरू हुआ है, अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। समाज में अनेक बदलाव आये हैं। कुछ परिवर्तन व बदलाव सकारात्मक है तो कुछ परिवर्तन समाज पर नकारात्मक प्रभाव डालने वाले भी हैं और यह कोई नई बात नहीं है। हर चीज के दो पहलू होते हैं। कहीं सकारात्मक तो कहीं नकारात्मक नजर आते हैं जिसके कारण समाज में कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ बनती हैं तो कुछ प्रतिकूलता भी उत्पन्न कर देती है। यह सब डिजिटल मीडिया के इस्तेमाल व उसके प्रभाव का ही परिणाम है।

डिजिटल मीडिया को लेकर थोड़ी जागरूकता, थोड़ी शिक्षा, कुछ प्रशिक्षण व आवश्यक सहायता के द्वारा पूर्णतः अनुकूलता लाना सम्भव है। यह इस्तेमाल के तरीके, प्रयोगकर्ता की सोच व आवश्यक सावधानियों को आधार मानकर पूर्ण सफलता व विकास सम्भव है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची —

1. देसाई, ए. आर (2014) : भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र रावत पब्लिकेशन जयपुर राजस्थान।
2. त्रिपाठी, रेनु (2011) : ग्रामीण विकास और निर्धनता उन्मूलन, ओमेगा प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. आलम, महबूब (2014) : ग्रामीण विकास और गरीबी निवारण कार्यक्रम, ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
4. पावर, मीनाक्षी (2014) : पंचायती राज और ग्रामीण विकास, राधा पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
5. सिन्हा, अरविंद के. (2014) : मास मीडिया एंड रूलर डेवलपमेंट, कॉन्सेप्ट पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
6. सौधी कृष्णा (1983) : कम्प्युनिकेशन ग्रोथ एंड पब्लिक पॉलिसी, ब्रेक थ्रू पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
7. स्टीव वर्ग, चार्ल्स एस.(1985) : द मास कम्प्युनिकेटर, पब्लिक ऑपिनियन एण्ड मॉस मीडिया, हार्पर एण्ड ब्रदर्स न्यूयॉर्क।
8. परख, जवरीमल्ल (2001) : लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
9. रजा, राही मासूम और सिंह, कुंवर पाल (2001) : सिनेमा और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
10. चोपड़ा, लक्ष्मिन्द्र (2002) : जनसंचार का समाजशास्त्र, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा।
11. सेतिया, सुभाष (2012):गांव में सूचना टेक्नोलॉजी का प्रभाव, कुरुक्षेत्र, मासिक पत्रिका, सूचना प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली।
12. यादव, राम गणेश (2018) : भारत में सामाजिक परिवर्तन और विकास, ओरिएण्ट ब्लैक स्वान, नई दिल्ली।
13. इस्सर, देवेन्द्र (1985) : जनसंचार सम्प्रेषण और विकास, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, नई दिल्ली।
14. परख, जवरीमल्ल (1999) : जनसंचार माध्यमों का सामाजिक चरित्र, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

विनय-पिटक का परिचय

तारा शर्मा*
प्रो. बीरेंद्र कुमार**

प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्मय में विनय-पिटक सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यह त्रिपिटक का प्रमुख अंग है इसका मूल रूप पालि में संरक्षित है। इसी के आधार पर आगामी काल में विनय के अन्य संस्करण तैयार किये गये। इसके अन्तर्गत मुख्यतः उन आचारों तथा नियमों का संग्रह है जिनका परिपालन संघवासी भिक्षु-भिक्षुणियों के द्वारा अपने वैयक्तिक जीवन को संयमित करने तथा संघ संचालन के लिए किया जाता था। एक प्रकार से यह बौद्धों में प्रचलित सांघिक जीवन की आधारशिला है।

विनय का अर्थ, नियम, चारित्रिक नियम, नैतिक शिक्षा, विहार के संकलन संगठन के नियम अच्छा व्यवहार, विहार की संस्कृति आचार नीति आदि। लालमणि जोशी ने इसका अर्थ विवेचन 'वि-नयति' के आधार पर किया है जिसका तात्पर्य है विनीत अथवा सम्य बनाना। इसमें संयुक्त द्वितीय शब्द अर्थात् पिटक का अर्थ रीजडेविड ने टोकरी किया है। कतिपय बौद्ध ग्रन्थों में इसे 'परियत्ति (पर्याप्ति) तथा भोजन अथवा पात्र के अर्थ में ग्रहण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'पिटक' शब्द बुद्ध वचनों की समग्र राशि को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। इस प्रकार विनय-पिटक भिक्षु-भिक्षुणियों के आचार विषयक नियमों अथवा संघ के संगठन सम्बन्धी नियमों का पूजीभूत संग्रह कहा जा सकता है।

विनय वह अनुशासन था जो गौतम द्वारा स्थापित संघों में प्रवृष्टि भिक्षु-भिक्षुणियों के वाह्य जीवन को नियमित तथा नियंत्रित करता था। स्पष्ट है कि 'धम्म' की अपेक्षा 'विनय संघ में प्रविष्ट भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए एक आचार संहिता के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

विनय की संकल्पना विविध जैन ग्रन्थों में यत्र-तत्र अंकित सन्दर्भों के आधार पर की जाती है। दोनों में एक अन्य भेद यह है कि बौद्ध विनय में हर एक नियम के प्रतिपादन का श्रेय गौतम बुद्ध को दिया गया है और उनके द्वारा इसके प्रवचन का अवसर, स्थान, व्यक्ति आदि का सन्दर्भ भी निर्दिष्ट किया गया है। अतः स्पष्ट है कि समस्त धार्मिक संगठनों में बौद्ध संघ ऐसा पहला संघ है जिसे एक सामुदायिक भावना पर संगठित कर उसके संचालन के लिए सुस्पष्ट नियमों का प्रावधान किया गया।

विनय के संस्करण

बौद्ध साहित्य में 'विनय' का प्राचीनतम रूप पालि में उपलब्ध है। जिसमें विनय का मौलिक अंश संग्रहित है यह थेरेवाद से सम्बन्धित विनय है। कालांतर में संघभेद के कारण बौद्ध सम्प्रदायों में पालिकृत विनय के समरूप विनय के अन्य संस्करण तैयार किये गये थे। ये संस्करण मुख्यतः चीनी अथवा तिब्बती भाषाओं में मिलते हैं। मूल सर्वास्तिवाद विनय जो कि पालि विनय का प्रतिरूप है तिब्बती भाषा में उपलब्ध है। नंजिओं ने 'एकैटलाग ऑफ दि चाइनीज ट्रान्सलेशन्स आफ दि बुद्धिस्ट त्रिपिटक' में विनय की सात परम्पराओं तथा तत्सम्बन्धी कृतियों का विवरण दिया है।

1. **सर्वास्तिवाद** — द्रसाध्यायविनय, विनयनिदान, विनयमातृक, विनयविभाषा, भिक्षु प्रातिमोक्ष सूत्र, भिक्षुणी प्रातिमोक्ष सूत्र।
2. **मूल सर्वास्तिवाद** — प्रातिमोक्ष सूत्र, विनय संयुक्त वास्तु, विनय संग्रह, विनय संघ भेदक वस्तु, भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष सूत्र, एकशतकर्म, निदान, मातृका, प्रव्रज्या-उपसंपदा-कर्मवाक्य, विनयनिदानमातृका गाथा, विनयसंयुक्तवास्तुगाथा, विनयगाथा।
3. **धर्मगुप्त** — भिक्षुणी कर्म, चतुर्वर्ण भिक्षुणीप्रातिमोक्ष भिक्षुकर्म, भिक्षुणीप्रातिमोक्ष, विनयसंयुक्त कर्म।
4. **महासाधिक** — भिक्षुविनय, भिक्षुणीविनय।
5. **माहीशासक** — पंचवर्ग, विनय, विनयकर्म, भिक्षुप्रातिमोक्ष भिक्षुणीप्रातिमोक्ष।

* शोधार्थिनी, प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, बुद्ध स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कुशीनगर

सम्बद्ध : दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

** शोध निर्देशक (विभागाध्यक्ष), प्राचीन इतिहास पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, बुद्ध स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कुशीनगर

सम्बद्ध : दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

6. काश्यपीय — प्रातिमोक्ष सूत्र।

7. सम्मतीय — द्वाविंशतिप्रसन्नार्थशास्त्र।

पाचाओं ने चीनी अनुवादकों के आधार पर विभिन्न सम्प्रदायों के विनय ग्रन्थों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

1. महासांधिक विनय
2. स्थविरवादी विनय
3. सर्वास्तिवाद विनय
4. मूलसर्वास्तिवाद विनय
5. महोशासक विनय
6. धर्मगुप्तक विनय
7. सम्मतीय विनय
8. काश्यपीय विनय

एक महासांधिक विनय का 416 ईस्वी में फाह्यान और बुद्धमद द्वारा चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। इसमें 218 नियमों का उल्लेख है। सर्वास्तिवाद विनय कुमार जीव पुण्यत्रात और धर्मरुचि द्वारा चीनी भाषा में अनुदित है। इसमें अनुवादित नियमों की संख्या 257 हैं मूलसर्वास्तिवाद विनय का ई—लिंग ने 703—710 ई० में चीनी भाषा में अनुवाद किया था। इसमें 428 नियम दिए गये हैं। तिब्बती भाषा में अनुवाद काश्मीरी बुद्धजीव ने 423—524 ई० में किया था। जिसमें 521 नियम दिए गए हैं।

धर्मगुप्तक विनय 408 ई० में बुद्धयश द्वारा चीनी भाषा में अनुदित है जिसमें 250 नियम हैं। अन्तिम दो विनयों में केवल प्रातिमोक्ष नियम प्राप्त होते हैं। पालि विनय पिटक में शिक्षापदों की संख्या 227 है। विनय पिटक के उक्त छः संस्करणों में आपस में बहुत कम मतभेद हैं। मौलिक रूप से वे सब एक—दूसरे के समान हैं। जिन सम्प्रदायों से वे सम्बन्धित हैं उनका उद्भव सम्भवतः अशोक के काल से पहले हो चुका था। वे सब स्थविरवादी बौद्ध धर्म की ही शाखा थे और विनय सम्बन्धी कुछ मतभेदों के कारण ही उनसे अलग हो गये थे। 'कथावस्तु' में इन सब का वर्णन प्राप्त होता है।

पूर्वी तुर्कीस्थान तथा नेपाल से विनय के संस्करण संस्कृत भाषा में प्राप्त हुए हैं। इसी प्रकार संस्कृत विरचित विनय की कुछ पाण्डुलिपियां गिलगिट से प्राप्त हुई हैं। राहुल सांस्कृतयायन ने इस प्रकार की कुछ पाण्डुलिपियाँ तिब्बत से प्राप्त की और सम्प्रति ये विहार रिसर्च सोसायटी पटना के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन पाण्डुलिपियों में विनय सूत्र, विनय सूत्र टीका, प्रातिमोक्ष सूत्र, प्रातिमोक्ष सूत्र टीका, भिक्षु प्रकीर्णिक, श्रामणेर टीका तथा उसम्पदा ज्ञापित के अंश मिलते हैं। सन् 1913 ई० में एल० फिनोट ने जर्नल एशियाटिक में संस्कृत विनय के एक ग्रन्थ का प्रकाशन किया।

विनय से सम्बन्धित इस विशाल साहित्य के प्रकाश में आने के कारण बौद्ध बौद्ध संघ तथा भिक्षुचर्या के अध्ययन तथा अनुसंधान में नवीन तथ्यों का संयोजन संभव हुआ। साथ ही बुद्ध कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के अंकन में भी विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है।

पालि विनय का स्वरूप

बौद्ध सम्प्रदायों में प्रचलित पूर्वोक्त विभिन्न में पालि रचित विनय, सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इसका मुख्य कारण विनय के संस्करणों की तुलना में यह समग्र रूप में उपलब्ध है। यह स्थविरवाद का विनय है। पालि विनयपिटक तीन भागों में विभक्त है —

1. खन्धक
 2. सुत्तविभंग
 3. परिवार
1. **खन्धक** — खन्धक के दो भाग हैं — महावग्ग और चुल्लवग्ग। महावग्ग में शाक्यमुनि द्वारा बोधि प्राप्ति के क्षण से धर्मचक्रप्रवर्तन, प्रारम्भिक भिक्षुओं की दीक्षा आदि से लेकर प्रव्रज्या उपसम्पदा, उपोसथ, वर्षावास, प्रवास, प्रवारण, मैषज्य, वस्त्र, चीवर, संघ की एकता आदि विषयों पर विस्तृत वर्णन किया गया है। चुल्लवग्ग में प्रकीर्ण एवं विभिन्न शिक्षाओं व नियमों का विधान है। उसके 11वें और 12वें अध्याय में पहली और दूसरी बौद्ध संगीतियों का वर्णन है। सम्पूर्ण खन्धक 20 खन्धकों में विभक्त हैं। महावग्ग में दस और चुल्लवग्ग में दस खन्धक हैं।

2. **सुत्तविभंग** — विनय पिटक का द्वितीय महत्वपूर्ण भाग सुत्तविभंग है जो दो भागों में विभक्त है — 1. भिक्षु विभंग, 2. भिक्षुनी विभंग। इनमें पहले के सात तथा दूसरे के छः भाग जिसमें पाराजिक, संधातिदेस, अनियत, निस्सगीय, पाचिप्तय, पाटिदेसनीय सेरिय, और अधिकरण समथ धर्मों के विधान हैं। वे क्रमशः 4, 13, 2, 30, 92, 4, 75, 7 हैं। सुत्त विभंग के प्रारम्भ में पातिमोक्ख नाम का एक भाग है जिसमें मूल शिक्षापदों का संग्रह है। वह दो भागों में विभक्त है। भिक्षोपातिमोक्ख और भिक्षुनीपातिमोक्ख भिक्षुनीपातिमोक्ख भिक्षुपातिमोक्ख व आधारित है। भिक्षुनी पातिमोक्ख, भिक्षु पातिमोक्ख क्रमशः महाविभंग (भिक्षुविभंग) और भिक्षुनीविभंग के ही संक्षिप्त रूप हैं इस प्रकार सुत्तविभंग को पातिमोक्ख का विस्तृत रूप या व्याख्या कह सकते हैं अथवा पातिमोक्ख को सुत्तविभंग का उपयोग के योग्य संक्षिप्तिकरण।

पातिमोक्ख —

(पातिमोक्ख (संस्कृत प्रातिमोक्ष) का अर्थ है मुक्ति के लिए नियम। पालिमहावग्ग में पातिमोक्ख की परिभाषा इस प्रकार वर्णित है — “पातिमोक्खं ति आदिमेतं मुखमेतं पमुरवमेतं कुसलान धम्मानं।” तेन वुच्यति पातिमोक्ख अर्थात् पातिमोक्ख कहा जाता है।

किन्तु प्राचीन स्थविर ‘मोक्ख’ को मोक्ष के अर्थ में न लेकर मोक्ष्य अथवा प्रधानता के अर्थ में माना है। त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित के पाटिमोक्ख शिक्षापद—शील को कहते हैं जो उसे पालता है, रखता है, वह उस व्यक्ति को उपाय आदि के दुःखों से मुक्त करता, कराता है, छुड़ाता है, इसलिए पातिमोक्ख कहा जाता है। प्रत्येक भिक्षु अलग-अलग अपने मुख से अपने पाप का स्वीकरण कर पाप—विमुक्त होता था। अतः प्रातिमोक्ष के ‘प्राति’ शब्द में निहित भाव को लेकर कहा जा सकता है कि प्रातिमोक्ष का अर्थ — प्रत्येक को अलग-अलग मुक्ति से है। भिक्षु संघ की पाक्षिक बैठकों में उपासंघ के अवसर पर प्रत्येक भिक्षु अपने-अपने पापों की घोषणा करता था और इस प्रकार ‘पब्लिक कन्फेशन’ द्वारा प्रतिमुक्ति प्राप्त करता था। अतः पालि ‘प्रातिमोक्ख’ का अर्थ वही है जो संस्कृत ‘प्रातिमोक्ष’ का।

भिक्षु—पातिमोक्ख में 227 और भिक्षुनी—पाति मोक्ख में 311 शिक्षापद हैं। भिक्षुनी पातिमोक्ख में ‘अनियति धर्म’ नहीं है और शेष उक्त शिक्षापदों का क्रम 8, 17, 30, 166, 8, 75, 7 है।

3. **परिवार** — परिवार या परिवार—पाठ विनयपिटक का अन्तिम भाग है। इसे विनय का सार माना गया है। यह आठ भागों में विभक्त है। इसके प्रारम्भ में उपालि स्थविर से लेकर 34 स्थविर पीढ़ियों तक की विनय परम्परा का इतिहास है। विनय में परिवार को सबसे बाद का माना गया है। विन्टरविट्ज ने कहा है — परिवार का विनयपिटक से वही सम्बन्ध है जो वेद की अनुक्रमणी और परिशिष्टों का वेद के साथ।

विनय की उत्पत्ति और विकास के लिए और उसके विषय में ओल्डेनबर्ग ने यह मत प्रकट किया है कि प्रातिमोक्ष और स्कन्धकों में उपलब्ध कुछ कर्मवाचाओं का उद्गम सबसे पहले मानना चाहिए। इसके अन्तर निरुक्तिप्रधान प्रातिमोक्ष के विभंग को मानना चाहिए। कथाएं और इतिहास जो इस समय विभंग में उपलब्ध होते हैं और बाद में विकसित हुए होंगे। चुल्लवग्ग के अन्तिम दो स्कन्धक इनके पश्चात् माने जाने चाहिए एवं सबसे बाद परिवार का संयोजन स्वीकार होना चाहिए। इस प्रकार विनय का विकास पांच अवस्थाओं में बताया गया है। इस विषय पर फ्राउवाल्नर महोदय ने अधिक विचारपूर्वक मतान्तर प्रकट किया है। उनका कहना है कि न केवल प्रातिमोक्ष अपितु विभंग में आई हुई अनेक कथाएं अर्थवर्गीय सूत्र आदि कुछ सन्दर्भ अत्यन्त प्राचीन थे एवं उनके आधार पर परिनिर्वाण के प्रायः सौ वर्ष बाद मूलक स्कन्ध का एक समग्र—रचना के रूप में संपादन हुआ। इस मूल स्कन्धक के प्रणेता ने परम्परा प्राप्त वैनयिक नियम एवं तत्सम्बन्धिता कथाओं के आधार पर एक विशिष्ट क्रमयुक्त एवं रीतिबद्ध ग्रन्थ की रचना की। इस मूल स्कन्ध के प्रारम्भ एवं अन्त में तथागत के जीवन चरित के अंश थे एवं उनकी जीवनी के अन्तर्गत विभिन्न अवसरों का उल्लेख करते हुए वैनायिक नियमों का प्रतिपादन किया गया था। महापरिनिर्वाण सूत्र इस मूल स्कन्धक का अन्तिम भाग था एवं उसके साथ प्रथम संगीति की कथा अनुसंगत थी। द्वितीय संगीति का वर्णन समसामयिक घटना का वर्णन है एवं उसे एक परिशिष्ट के रूप में माना जाना चाहिए। निकाय भेद के अनन्तर इसी मूल स्कन्धक के आधार पर साम्प्रदायिक विनयों की रचना हुई। इसी कारण उनमें मौलिक सादृश्य उपलब्ध होता है।

विनय की संकलन की परम्परा—विनयपिटक के चुल्लवग्ग स्कन्धक से विनय से संकलन के विषय में कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएं मिलती हैं। इनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि विनय का मूल कलेवर प्रथम तथा द्वितीय बौद्ध संगीतियों के काल में तैयार किया गया।

संदर्भ सूची

1. विनय के अर्थ के लिए दृष्टव्य टी०डब्ल्यू रीजडेविड्स, पालि इंगलिश डिक्शनरी, लंदन, 1959
2. लालमणि जोशी, स्टडीज इन दि बुद्धिष्ट कल्चर ऑफ इण्डिया, दिल्ली, 1967, पृ० 83
3. हार्नर आई०बी० — दि बुक ऑफ दि डिसिल्लन, भाग 1, इन्ट्रोडक्शन, पृ० VII,
4. नंजियो — ए कैटलाग ऑफ दि चाइनीज ट्रांसलेशन ऑफ दि बुद्धिष्ट त्रिपिटक,, लंदन, 1883
5. पाचाओ, डब्ल्यू, पृ० 30, पृ० 34
6. बनर्जी, ए०सी०— प्रातिमोक्ष सूत्र, आई०एच० क्यू०, जिल्द 29, सू० 2, 3 एवं 4, 1953
7. द्रष्टव्य — दि एज आफ विनय, पृ० 5 में उद्धृत बी० एल० उबेर का उचार।



पूर्व मध्यकाल में शिक्षण की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. संदीप कुमार तिवारी*

शिक्षा के माध्यम से मानव अपनी बुद्धि को प्रखर करके शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों के विकास द्वारा लौकिक एवं पारलौकिक जीवन के वास्तविक सुख को प्राप्त कर सकता है। प्राचीन काल से ही शिक्षा का अंतिम लक्ष्य सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर, वास्तविक सत्य की खोज करना रहा है, जिससे मनुष्य को मोक्ष प्राप्त हो सके। साथ ही शिक्षा प्राप्त करके मनुष्य समाज के प्रति अपने कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व का निर्वहन करने में सक्षम हो पाता है। विद्या से विद्यार्थी की बुद्धि का विकास होता है, उसे भले-बुरे की पहचान होती है, उसमें नैतिकता की भावना विकसित होती है, वह दूसरों के साथ सहानुभूति पूर्ण तथा तर्कसंगत व्यवहार करता है एवं दूसरों के प्रति उत्पन्न होने वाली द्वेष भावना दूर होती है।

पूर्व मध्यकालीन साहित्यिक स्रोत इस समय के विद्यारम्भ संस्कार का विस्तृत विवरण प्रदान करते हैं। अपरार्क तथा स्मृतिचंद्रिका से ज्ञात होता है कि बालक की शिक्षा 5 वर्ष की अवस्था में प्रारंभ होती थी। प्रारंभ में उसे अक्षरों एवं शब्दों का ज्ञान कराया जाता था और गणित पढ़ाया जाता था। विद्यार्थियों के बारे में मेधातिथि ने वर्णन किया है कि विद्यार्थी को प्रतिदिन भिक्षा माँग कर भोजन ग्रहण करना चाहिए। विद्यार्थी के कार्यों का उल्लेख करते हुए मेधातिथि लिखता है कि शिष्य का कर्तव्य है कि वह गुरु के लिए घड़ों में पानी भरकर लाये, उसके शरीर की मालिश करे, गुरु के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति का जूठा भोजन ग्रहण न करे अथवा उसके घर में झाड़ू न लगाये, क्योंकि ऐसे कार्य उसके लिए अपमानजनक हैं। मेधातिथि के मतानुसार यदि कोई विद्यार्थी पहली बार गलती करता है तो उसे समझा-बुझाकर सही मार्ग पर लाना चाहिए। परंतु इसके पश्चात भी यदि उसके द्वारा उचित मार्ग का अनुसरण न करने की दशा में अंततः डंडे का प्रयोग धीरे से किया जाना चाहिए। लक्ष्मीधर ने लिखा है कि गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अत्यंत घनिष्ठ होता था। शिष्य का यह कर्तव्य था कि वह रात-दिन गुरु की सेवा में तत्पर रहे तथा गुरु का कर्तव्य था कि वे स्नेहपूर्वक शिष्य से पुत्र की भाँति प्रेम करे एवं उसकी सभी जिज्ञासाओं की पूर्ति करे। गुरु से किसी भी विद्यार्थी को अपेक्षित ज्ञान से वंचित रखने की अपेक्षा नहीं थी, अपितु वह शिष्यों को अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्रदान करता था। 'शब्दानुशासन' का उल्लेख है कि ऐसे छात्र जो जितेंद्रिय, आत्मविजयी, कर्तव्यपरायण, शीलवान एवं प्रतिभा-संपन्न हो, शास्त्र-अध्ययन के पात्र होते थे। अलबेरूनी के अनुसार पहला आश्रम ब्रह्मचर्य का था जिसमें विद्यार्थी आठ वर्ष की अवस्था में प्रवेश करता था तथा यह 25 वर्ष की आयु तक चलता था। ब्रह्मचर्य का पालन करना, जमीन पर सोना, वेद अध्ययन करना, उसका अर्थ जानना, धर्मशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना विद्यार्थी का कर्तव्य था तथा यह समस्त कार्य वह किसी आचार्य की सेवा में रहकर सम्पादित करता था। वह अपने गुरु की दिन-रात सेवा करता था। दिन में तीन बार स्नान करता था। प्रतिदिन वह प्रातः काल एवं सायं काल अग्नि में हवन करता था। पुनः अपने गुरु की पूजा करता था। अलबेरूनी अग्नि में हवन के द्वारा की गई पूजा को सर्वाधिक पवित्र मानता था। कोई अन्य पूजा उसे इससे विमुख नहीं कर सकती थी। मूर्ति-पूजा, गृह, नक्षत्र-पूजा, गो-पूजा कोई भी हवन का स्थान नहीं ले सकती है। वह एक दिन व्रत रखता है तो अगले दिन पारण करता है। माँस खाने की उसे कदापि अनुमति नहीं थी। वह अपने गुरु के साथ गुरुकुल में रहता था। प्रतिदिन प्रातः अथवा सायं काल भिक्षाटन के लिए गुरुकुल से बाहर जाता था। पाँच से अधिक घरों में भिक्षा

* सहा० अध्यापक (सामाजिक विज्ञान), मुफ़ीद-आम इंटर कॉलेज, आगरा, मो०नं०- 9307194547

प्राप्त करने के लिए नहीं जाता था। भिक्षा में जो कुछ भी प्राप्त होता था उसे गुरु को समर्पित कर देता था। उसका एक भाग गुरु उसे वापस लौटा देता था। इस प्रकार शिष्य गुरु के 'उच्छिष्ट' पर पलता था।

पूर्व मध्यकाल में अध्यापक शिक्षण का कार्य निःशुल्क करते थे कतिपय अध्यापकों द्वारा अध्यापन कार्य हेतु शुल्क लेने की भी जानकारी प्राप्त होती है। वाराह पुराण के अनुसार जो ब्राह्मण अध्यापन कार्य हेतु शुल्क ले, उसे श्राद्ध में आमंत्रित नहीं किया जाना चाहिए। मेधातिथि के अनुसार यदि कोई अध्यापक अध्यापन से पूर्व ही शुल्क निर्धारित करके अध्यापन कार्य प्रारम्भ करें, तो यह पाप है, परंतु शिक्षा समाप्त होने पर यदि कोई विद्यार्थी गुरु को कुछ धन देता है तो इस धन को ग्रहण करना धर्म-विरुद्ध नहीं है। अपरार्क ने अध्यापकों को अध्यापन कार्य हेतु शुल्क लेने की अनुमति प्रदान की है। सोमेश्वर ने 'मानसोल्लास' में लिखा है कि शिक्षा समाप्त होने के पश्चात राजकुमार गुरु को वस्त्र, स्वर्ण, भूमि और कभी-कभी गाँव गुरु-दक्षिणा स्वरूप प्रदान करते थे। कल्हण ने भी 'राजतरंगिणी' में गुरु के लिए किए गए दान की प्रवृत्ति की प्रशंसा की है। सौराष्ट्र के शासक गोविन्दराज द्वारा ब्राह्मण आचार्यों को अनेक शिष्यों की देख-भाल के निमित्त अनेक भूखंडों को दान में देने का उल्लेख मिलता है। 'स्मृतिचंद्रिका' के अनुसार विद्यार्थी को ब्राह्मण अध्यापक से ही शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। आपत्ति-काल में ही वे क्षत्रिय या वैश्य अध्यापक से शिक्षा प्राप्त कर सकता है। परंतु 'पालकाप्य संहिता' में उल्लिखित है कि ब्राह्मण अध्यापक तीनों वर्णों के, क्षत्रिय अध्यापक दो वर्णों के, वैश्य अध्यापक एक वर्ण के विद्यार्थी को पढ़ाने हेतु अधिकृत हैं। इस प्रकार 'पालकाप्य संहिता' के वर्णन से ऐसा विदित होता है कि इस समय में भी कतिपय क्षत्रिय एवं वैश्य भी अध्यापन का कार्य करते थे। 'स्मृतिचंद्रिका' में 'यम' तथा 'संस्कार-प्रकाश' में 'कर्म-पुराण' को उद्धृत करते हुए उल्लेख मिलता है कि इनके द्वारा ऐसे अध्यापकों की निंदा की गई है जो अपने पास एक वर्ष से रहने वाले विद्यार्थियों को भी शिक्षा नहीं प्रदान करते हैं।

पूर्व मध्यकाल में ब्राह्मण विद्यार्थी मुख्य रूप से व्याकरण, तर्कशास्त्र, आयुर्वेद, अथर्वविद्या, वैदिक-साहित्य एवं दर्शन की शिक्षा प्राप्त करते थे, जिसके माध्यम से वे अपनी नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति करके अपने उत्तम चरित्र द्वारा स्वयं तथा समाज दोनों का कल्याण करते थे। क्षत्रिय विद्यार्थियों को बौद्धिक प्रिक्षण के साथ-साथ नैतिकता तथा अनुशासन की व्यापक शिक्षा प्रदान की जाती थी। इस समय कुछ ऐसे शासक भी हुए हैं जो अपनी साहित्यिक कृतियों के कारण प्रसिद्ध थे। इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उनको संस्कृत की भी उच्च कोटि की शिक्षा प्रदान की जाती थी। वे शासक जो उच्च कोटि के साहित्यकार भी थे उनमें हर्ष, महेंद्र वर्मा तथा यशोवर्मा जैसे प्रसिद्ध शासकों के नाम का उल्लेख किया जा सकता है। वैदिक साहित्य के संदर्भ में वैश्य वर्ग की स्थिति शूद्र वर्ग की अपेक्षा उन्नत थी। वैश्य मुख्यतः व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त करते थे। चरित्र-निर्माण उनकी भी पाठ्यचर्या का मुख्य अंग था। धर्मशास्त्र के अध्ययन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था जबकि अर्थशास्त्र की राजनीति विज्ञान की परंपरा पतन्मोक्ष स्थिति में दिखाई देती है। 'राजशेखर' द्वारा उल्लिखित विषयों की सूची में 'अर्थशास्त्र' एवं 'कामन्दकीय' का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, जबकि उसके पहले 'बाणभट्ट' एवं 'दण्डी' ने विषयों की जो सूची दी है उसमें इनको समाहित किया है। 'विज्ञानेश्वर' ने धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के ऊपर लिखा है कि उस समय अर्थशास्त्र पूर्णतः उपेक्षित था।¹ लक्ष्मीधर ने 'कृत्यकल्पतरु' के 'ब्रह्मचारीकाण्ड' में 'अर्थशास्त्र' का उल्लेख तो किया है, किंतु उसकी व्याख्या मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियों में उल्लिखित राजनीति के एक भाग के अर्थ के रूप में की है।² उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में अल्तेकर महोदय का मत उचित प्रतीत होता है कि इस युग में 'धर्मनिरपेक्ष' (अर्थकाम) एवं 'धार्मिक' (धर्ममोक्ष) का संतुलित विभाजन किया गया था।

गुप्त विज्ञानों की बढ़ती हुई लोकप्रियता ने हर्ष के बाद के काल में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। 'राजशेखर' ने अपनी सूची में यंत्रवाद, मंत्रवाद, खेचरी-कला, अमरी-कला केवली-विधिः, पाताल-सिद्धिः, धातुकर्म और रसवाद का उल्लेख किया है। तंत्र एवं मंत्र इस समय लोकप्रिय विषय के रूप में दृष्टिगत होते हैं

जिसका पूर्ण विकसित तंत्र विभाग का संचालन 'विक्रमशिला विश्वविद्यालय' में होता था। इसके साथ ही 'नालंदा' एवं 'ओदंतपुरी' भी तांत्रिक अध्ययन के अन्य महत्वपूर्ण केंद्र थे। 'कथाकोश-प्रकरण'³ में विभिन्न प्रकार के 'रसों' की सूची दी गई है तथा 'स्वर्ण' एवं अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को निर्मित करने के विविध प्रकारों का उल्लेख मिलता है। 'मातृकाभेद-तंत्र'⁴ 'रसों' की सहायता से 'स्वर्ण' के निर्माण की विस्तृत जानकारी प्रदान करता है। 'नैषधीयचरित' से भी विशेष रूप से तैयार पारे के द्वारा लोहे को सोने में परिवर्तित करने का संदर्भ प्राप्त होता है।⁵

पूर्व मध्यकाल (1000 ई०) में क्षेत्रीय अपभ्रंश विभिन्न क्षेत्रों में आधुनिक क्षेत्रीय भाषाओं के रूप में रूपांतरित हो रही थी। विवेच्य काल में अपभ्रंश ने शास्त्रीय भाषाओं- संस्कृत एवं प्राकृत तथा आधुनिक स्थानीय भाषाओं के मध्य सेतु का कार्य किया। जी०सी० पाण्डे के अनुसार पूर्वकालीन काव्य की दोहा-विधा शुद्ध अपभ्रंश में दृष्टिगत होती है जिसका सृजन सिद्ध परंपरा के अंतर्गत सातवीं से दसवीं शताब्दी के मध्य हुआ।⁶ आठवीं शताब्दी की रचना 'कुवलय-माला-कथा' में उल्लेख मिलता है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में 18 अपभ्रंश बोले जाते थे, जो कालांतर में शनैः शनैः स्थानीय क्षेत्रीय भाषाओं में परिवर्तित हो गए।⁷ इस समय 'संस्कृत' का क्षेत्र क्रमशः संकुचित हो रहा था तथापि उसे अभी भी लोक-भाषा की संज्ञा प्राप्त थी तथा संस्कृति एवं प्रशासन की प्रधान भाषा होने के कारण अभी भी देश के उच्च सांस्कृतिक एवं बौद्धिक जीवन की एकता के निमित्त आधार का कार्य कर रही थी। अलबरूनी⁸ के अनुसार सामान्य जन द्वारा प्रयोग किए जाने वालों स्थानीय साहित्य उच्च, शिक्षित एवं प्रबुद्ध वर्गों द्वारा उपेक्षित थे। 'वर्णरत्नाकर'⁹ में उच्च वर्ग के लोगों की शिक्षा में स्थानीय भाषाओं जैसे- प्राकृत, अवहट्ट, पैशाची, मागधी, शकारी, आभीरी, चण्डाली, सावली, द्राविली और औत्कली के ज्ञान का भी समावेश किया गया है।

बृहद दृष्टिकोण में शिक्षा घुमक्कड़ साधुओं और संन्यासियों की संस्था के माध्यम से एवं पवित्र ग्रंथों विशेषकर पुराणों के सार्वजनिक पाठ के द्वारा निम्न जातियों सहित समुदायों के मध्य प्रसारित हो चुकी थी। धर्मशास्त्रों में उच्च शिक्षा के अंतर्गत जो विवरण मिलता है उसके अनुसार उपनयन संस्कार के पश्चात शूद्रों को छोड़कर सब को इसका अधिकार प्राप्त था। साथ ही परंपरागत रूढ़िवादी शिक्षा की बढ़ती हुई अभिजातवर्गीय प्रवृत्ति ने ग्यारहवीं शताब्दी में कुछ क्षेत्रों में वैश्यों के वैदिक अध्ययन पर प्रतिबंध आरोपित करना प्रारंभ कर दिया था। हालांकि, पश्चिमी भारत तथा अन्य क्षेत्रों में जहाँ जैनियों का प्रभुत्व था, उनके द्वारा वैश्यों के साहित्यिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जा रहा था। इसलिए वैश्य जो कि जैन धर्म में परिवर्तित हो गए थे, उनके द्वारा हेमचंद्र और योशोवीर जैसे विद्वान उत्पन्न किए गए।¹⁰ बौद्ध-धर्म ने शिक्षा के अधिक प्रजातंत्रीय स्वरूप को अपनाया। बौद्ध शैक्षिक संस्थाओं में सभी वर्ग के विद्यार्थियों को प्रवेश दिया गया जिनको शिल्प एवं दस्तकारी का भी प्रशिक्षण प्रदान किया जाता था। बारहवीं शताब्दी तक इस धर्म का पतन हो गया, किंतु इस धर्म के तांत्रिक स्वरूपों जिनमें सिद्धों जो कि जन-सामान्य से जुड़े हुए थे जिनको मगध, बंगाल तथा कुछ अन्य दूरस्थ क्षेत्रों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, के साथ शाक्य तांत्रिकों का उल्लेख किया जा सकता है जो कि निम्न वर्गों के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण प्रदर्शित करते हैं।¹¹ कतिपय जैन आचार्यों, सिद्धों एवं कुछ तांत्रिक आचार्यों द्वारा अपभ्रंश साहित्य के सृजन ने समाज के निम्न स्तर के लोगों की शिक्षा में तुलनात्मकरूप से वृद्धि के लिए एक निर्देशक का कार्य किया जिसमें वैश्यों के साथ-साथ शूद्र भी समाहित हैं।

पूर्व मध्यकाल में शासकों, सामन्तों एवं सम्पन्न साहूकारों द्वारा शिक्षण एवं अधिगम को संरक्षण देना तथा विस्तार करना एक उल्लेखनीय प्रवृत्ति रही है। विद्वान ब्राह्मणों, मंदिरों तथा मठों को न केवल प्रचुर अनुदान दिये गए थे अपितु गुजरात के कुमारपाल जैसे शासकों और क्षेत्रीय एवं राजस्थान के सम्पन्न साहूकारों द्वारा सहस्रों पुस्तकों की प्रतिलिपि तैयार कराई गई तथा पुस्तकालयों की स्थापना की गई। प्राथमिक शिक्षा के विषय में 'क्षेमेंद्र' ने अपने ग्रंथ 'नर्ममाला' में उल्लेख किया है कि अभिजात वर्ग एवं प्रतिष्ठित परिवारों में बच्चों

की प्राथमिक शिक्षा के निमित्त निजी शिक्षकों की सेवाएं ली जाती थी। उल्लेखनीय है कि नियोगी (एक निम्न शासकीय कर्मचारी) के बच्चों को पढ़ाने के लिए शिक्षक को मासिक पारिश्रमिक प्रदान किया जाता था।¹² 'वत्सराज' के 'रूपशतकम्' से पता चलता है कि प्राथमिक शिक्षा हेतु साधारण परिवारों के बच्चे मठों की मरम्मत करते थे, जहाँ उनको पढ़ना, लिखना, गणना और मंत्रों का कुछ ज्ञान कराया जाता था।¹³ आमजन के लिए प्राथमिक शिक्षा का माध्यम वृहत पैमाने पर अपभ्रंश अथवा स्थानीय भाषा थी।

सन्दर्भ

1. विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा, व्यवहाराध्याय, 5.21
2. कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारीकाण्ड, पृ० 43-44
3. कथाकोश-प्रकरण, पृ० 172-173
4. मातृकाभेद-तंत्र, प्रस्तावना
5. नैषधीय चरित, 4.42
6. पाण्डे, जी०सी०, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 474
7. अपभ्रंश काव्य त्रयी, पृ० 91
8. सचाऊ, अलबेरूनीज इण्डिया, जि० 1, पृ० 18
9. वर्णरत्नाकर, पृ० 84
10. शर्मा, दशरथ, अली चौहान डायनेस्टीज, पृ० 292
11. यादव, बी०एन०एस०, सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, इलाहाबाद, 2012, पृ० 567
12. नर्ममाला, पृ० 17, श्लोक 37
13. यादव, बी०एन०एस०, पूर्वोद्धृत, पृ० 558



रोहतास जिले में कृषि अवसंरचना का विकास : कृषि उत्पादकता, विपणन दक्षता एवं ग्रामीण आजीविका पर प्रभाव

राजेन्द्र प्रसाद*
डॉ. शशि भूषण राय**

सारांश

भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार कृषि है, किंतु कृषि की प्रगति केवल उत्पादन तकनीकों पर निर्भर नहीं करती, बल्कि कृषि अवसंरचना की उपलब्धता और गुणवत्ता पर भी समान रूप से निर्भर करती है। कृषि अवसंरचना में सिंचाई व्यवस्था, ग्रामीण सड़कें, भंडारण एवं कोल्ड स्टोरेज, मंडी परिसर, विद्युत आपूर्ति, परिवहन तथा कृषि प्रसंस्करण सुविधाएँ शामिल होती हैं। सुदृढ़ कृषि अवसंरचना न केवल कृषि उत्पादकता बढ़ाने में सहायक होती है, बल्कि विपणन दक्षता में सुधार और ग्रामीण आजीविका के अवसरों के विस्तार में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

प्रस्तुत शोध-पत्र बिहार राज्य के रोहतास जिले के विशेष संदर्भ में कृषि अवसंरचना के विकास का अध्ययन करता है तथा यह विश्लेषण करता है कि अवसंरचना का विकास किस प्रकार कृषि उत्पादकता, कृषि विपणन की दक्षता और ग्रामीण आजीविका को प्रभावित करता है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि रोहतास जिले में सिंचाई और कृषि उत्पादन की पर्याप्त संभावनाएँ होने के बावजूद भंडारण, परिवहन, कोल्ड चेन और प्रसंस्करण अवसंरचना की कमी किसानों की आय वृद्धि में बाधा उत्पन्न कर रही है। शोध में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यदि कृषि अवसंरचना का संतुलित और समावेशी विकास किया जाए, तो रोहतास जिले में सतत ग्रामीण विकास की व्यापक संभावनाएँ साकार हो सकती हैं।

मुख्य शब्द : कृषि अवसंरचना, कृषि उत्पादकता, विपणन दक्षता, ग्रामीण आजीविका, रोहतास जिला, ग्रामीण विकास

प्रस्तावना

ग्रामीण विकास किसी भी देश के संतुलित, समावेशी और सतत विकास की आधारशिला होता है। भारत जैसे विकासशील और कृषि प्रधान देश में ग्रामीण विकास का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि देश की विशाल जनसंख्या आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है और उनकी आजीविका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि तथा उससे संबद्ध गतिविधियों पर निर्भर करती है। ग्रामीण समाज की आर्थिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक जीवन कृषि के इर्द-गिर्द ही विकसित हुआ है। इस कारण कृषि क्षेत्र की प्रगति को ग्रामीण विकास का मूल आधार माना जाता है।

परंपरागत रूप से भारत में कृषि विकास को मुख्यतः उत्पादन वृद्धि के संदर्भ में देखा जाता रहा है। हरित क्रांति के बाद उन्नत बीजों, रासायनिक उर्वरकों और सिंचाई सुविधाओं के विस्तार से कृषि उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। किंतु समय के साथ यह स्पष्ट होता गया कि केवल उत्पादन बढ़ाना ही ग्रामीण विकास के लिए पर्याप्त नहीं है। यदि कृषि से जुड़ी अवसंरचना कमजोर होगी, तो बढ़ा हुआ उत्पादन भी किसानों की आय में अपेक्षित वृद्धि नहीं कर पाएगा। इसी कारण आधुनिक कृषि विकास की अवधारणा में कृषि अवसंरचना (Agricultural Infrastructure) को केंद्रीय स्थान प्राप्त हुआ है।

कृषि अवसंरचना से तात्पर्य उन भौतिक, संस्थागत और तकनीकी सुविधाओं से है, जो कृषि उत्पादन, भंडारण, परिवहन, विपणन और प्रसंस्करण को सुचारु रूप से संचालित करने में सहायक होती हैं। इसमें सिंचाई प्रणाली, ग्रामीण सड़कें, विद्युत आपूर्ति, गोदाम, कोल्ड स्टोरेज, मंडी परिसर, परिवहन नेटवर्क, कृषि यंत्रीकरण, सूचना एवं संचार तकनीक तथा कृषि आधारित उद्योग शामिल होते हैं। इन सुविधाओं की

* शोधार्थी सह सहायक प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, जवाहर लाल नेहरू महाविद्यालय, डेहरी ऑनसोन रोहतास, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

**वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक, अर्थशास्त्र स्नातकोत्तर विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

उपलब्धता और गुणवत्ता ही यह निर्धारित करती है कि कृषि उत्पादन कितना प्रभावी, लाभकारी और टिकाऊ होगा।

कृषि उत्पादकता पर अवसंरचना का प्रभाव अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। सुदृढ़ सिंचाई व्यवस्था फसल को मौसम की अनिश्चितताओं से बचाती है और किसानों को बहुफसली खेती अपनाने के लिए प्रेरित करती है। ग्रामीण विद्युत आपूर्ति और यंत्रीकरण से श्रम उत्पादकता में वृद्धि होती है तथा उत्पादन लागत में कमी आती है। इसी प्रकार, कृषि अनुसंधान, विस्तार सेवाएँ और तकनीकी प्रशिक्षण भी अवसंरचना के महत्वपूर्ण घटक हैं, जो किसानों को आधुनिक कृषि पद्धतियों से जोड़ते हैं।

विपणन दक्षता का संबंध भी प्रत्यक्ष रूप से कृषि अवसंरचना से जुड़ा हुआ है। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में सड़कें अच्छी नहीं होंगी, परिवहन सुविधाएँ सीमित होंगी और मंडी व भंडारण केंद्र दूर होंगे, तो किसान अपनी उपज को समय पर और सुरक्षित रूप से बाजार तक नहीं पहुँचा पाएँगे। इससे न केवल उपज की गुणवत्ता प्रभावित होती है, बल्कि विपणन लागत भी बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप किसानों को कम मूल्य पर अपनी उपज बेचनी पड़ती है। इस प्रकार कमजोर अवसंरचना किसानों की आय और ग्रामीण विकास दोनों को प्रभावित करती है।

ग्रामीण आजीविका के संदर्भ में भी कृषि अवसंरचना की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। कृषि अवसंरचना के विकास से न केवल कृषि उत्पादन बढ़ता है, बल्कि कृषि आधारित उद्योगों, प्रसंस्करण इकाइयों और सेवा क्षेत्रों का भी विस्तार होता है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के नए अवसर सृजित होते हैं और लोगों की आय के स्रोत विविध होते हैं। परिणामस्वरूप ग्रामीण समाज में आर्थिक स्थिरता आती है और शहरी क्षेत्रों की ओर पलायन की प्रवृत्ति में कमी आती है।

भारत में कृषि अवसंरचना का विकास असमान रहा है। कुछ राज्यों में सिंचाई, सड़क और भंडारण सुविधाओं का अपेक्षाकृत बेहतर विकास हुआ है, जबकि कई राज्यों में अब भी बुनियादी सुविधाओं की कमी बनी हुई है। बिहार राज्य इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। बिहार की अर्थव्यवस्था मुख्यतः कृषि पर आधारित है और राज्य की अधिकांश जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। इसके बावजूद, कृषि अवसंरचना के अपर्याप्त विकास के कारण राज्य की कृषि क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाया है।

बिहार में भूमि जोत का आकार छोटा है, जिससे किसानों के लिए आधुनिक तकनीक और यंत्रीकरण अपनाना कठिन हो जाता है। सिंचाई की सुविधाएँ कुछ क्षेत्रों में उपलब्ध हैं, किंतु भंडारण, कोल्ड स्टोरेज, ग्रामीण सड़क और प्रसंस्करण अवसंरचना की कमी कृषि विकास में प्रमुख बाधा बनी हुई है। यही कारण है कि पर्याप्त उत्पादन के बावजूद किसानों की आय अपेक्षाकृत कम बनी रहती है।

रोहतास जिला बिहार का एक प्रमुख कृषि जिला है और इसे राज्य का "धान का कटोरा" भी कहा जाता है। भौगोलिक दृष्टि से यह जिला कृषि के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करता है। सोन नदी और उससे जुड़ी नहर प्रणाली के कारण जिले में सिंचाई की स्थिति अपेक्षाकृत बेहतर है। यहाँ धान, गेहूँ, मक्का, दलहन, तिलहन तथा सब्जियों का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है। इसके अतिरिक्त, जिले में कृषि आधारित उद्योगों और प्रसंस्करण की भी पर्याप्त संभावनाएँ विद्यमान हैं।

इसके बावजूद, रोहतास जिले में कृषि अवसंरचना का विकास संतुलित नहीं हो पाया है। जहाँ एक ओर सिंचाई सुविधाएँ अपेक्षाकृत अच्छी हैं, वहीं दूसरी ओर भंडारण, कोल्ड चेन, प्रसंस्करण इकाइयों और परिवहन अवसंरचना की कमी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। परिणामस्वरूप किसानों को अपनी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल पाता और उन्हें फसल कटाई के तुरंत बाद कम कीमत पर उपज बेचने के लिए विवश होना पड़ता है।

रोहतास जिले में ग्रामीण सड़कों की स्थिति भी विपणन दक्षता को प्रभावित करती है। कई गाँवों में सड़कें संकरी या जर्जर हैं, जिससे मंडी तक पहुँचने में समय और लागत दोनों बढ़ जाते हैं। इससे विपणन प्रक्रिया महँगी और कम प्रभावी हो जाती है। इसी प्रकार, कोल्ड स्टोरेज और आधुनिक गोदामों की कमी के कारण फल, सब्जी और अन्य शीघ्र नष्ट होने वाली फसलों की भारी मात्रा में क्षति होती है।

कृषि अवसंरचना की कमी का प्रभाव केवल कृषि उत्पादन और विपणन तक सीमित नहीं रहता, बल्कि इसका प्रभाव ग्रामीण आजीविका पर भी पड़ता है। जब कृषि से पर्याप्त आय नहीं होती, तो ग्रामीण युवा रोजगार की तलाश में शहरी क्षेत्रों या अन्य राज्यों की ओर पलायन करने लगते हैं। रोहतास जिले में भी यह

प्रवृत्ति देखने को मिलती है। यह स्थिति ग्रामीण समाज की सामाजिक संरचना और विकास प्रक्रिया दोनों को प्रभावित करती है।

वर्तमान समय में सरकार द्वारा कृषि अवसंरचना के विकास के लिए कई योजनाएँ चलाई जा रही हैं, जैसेकृषि अवसंरचना कोष, प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, वेयरहाउसिंग और कोल्ड स्टोरेज के लिए वित्तीय सहायता, कृषि यंत्रीकरण योजनाएँ आदि। इन योजनाओं का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में बुनियादी ढाँचे को सुदृढ़ करना और कृषि को लाभकारी बनाना है। किंतु इन योजनाओं का प्रभाव क्षेत्रीय स्तर पर समान रूप से दिखाई नहीं देता, जिससे यह आवश्यक हो जाता है कि जिला स्तर पर कृषि अवसंरचना के प्रभाव का अध्ययन किया जाए।

इस पृष्ठभूमि में प्रस्तुत शोध अत्यंत प्रासंगिक है। यह अध्ययन रोहतास जिले में कृषि अवसंरचना के विकास की स्थिति का विश्लेषण करता है और यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है कि अवसंरचना का विकास किस प्रकार कृषि उत्पादकता, विपणन दक्षता और ग्रामीण आजीविका को प्रभावित करता है। यह शोध न केवल वर्तमान स्थिति को समझने में सहायक है, बल्कि भविष्य की विकास रणनीतियों के लिए भी उपयोगी अंतर्दृष्टि प्रदान करता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि रोहतास जिले में कृषि अवसंरचना का विकास केवल कृषि क्षेत्र की प्रगति तक सीमित नहीं है, बल्कि यह ग्रामीण समाज के समग्र विकास से जुड़ा हुआ है। यदि कृषि अवसंरचना को संतुलित, समावेशी और टिकाऊ ढंग से विकसित किया जाए, तो कृषि उत्पादकता में वृद्धि, विपणन दक्षता में सुधार और ग्रामीण आजीविका के सुदृढ़ीकरण के माध्यम से सतत ग्रामीण विकास की दिशा में ठोस कदम उठाए जा सकते हैं। प्रस्तुत शोध-पत्र इसी व्यापक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए कृषि अवसंरचना और ग्रामीण विकास के अंतर्संबंधों का गहन अध्ययन प्रस्तुत करता है।

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध-पत्र के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. रोहतास जिले में कृषि अवसंरचना की वर्तमान स्थिति का अध्ययन करना।
2. कृषि अवसंरचना और कृषि उत्पादकता के बीच संबंध का विश्लेषण करना।
3. कृषि अवसंरचना का विपणन दक्षता पर प्रभाव स्पष्ट करना।
4. ग्रामीण आजीविका और रोजगार पर अवसंरचना विकास के प्रभाव का अध्ययन करना।
5. कृषि अवसंरचना विकास के माध्यम से सतत ग्रामीण विकास की संभावनाओं को रेखांकित करना।

साहित्य समीक्षा

विभिन्न विद्वानों ने कृषि अवसंरचना और ग्रामीण विकास के संबंध पर अध्ययन किए हैं।

Rao (2015) के अनुसार, सिंचाई और परिवहन अवसंरचना में निवेश से कृषि उत्पादकता में दीर्घकालिक वृद्धि होती है।

Singh and Kumar (2018) ने पाया कि भंडारण और कोल्ड चेन अवसंरचना की कमी किसानों को मूल्य अस्थिरता के प्रति अधिक संवेदनशील बनाती है।

World Bank (2020) की रिपोर्ट के अनुसार, ग्रामीण अवसंरचना विकास से न केवल कृषि आय बढ़ती है, बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर भी सृजित होते हैं।

Bihar Economic Survey (2022) में यह उल्लेख किया गया है कि राज्य में कृषि अवसंरचना में निवेश बढ़ाने से किसानों की आय में उल्लेखनीय सुधार संभव है।

शोध पद्धति

यह अध्ययन वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक शोध पद्धति पर आधारित है।

डेटा के स्रोत

- द्वितीयक आँकड़े
- जिला सांख्यिकी पुस्तिका, रोहतास
- बिहार आर्थिक सर्वेक्षण
- शोध पत्रिकाएँ एवं सरकारी रिपोर्टें

अध्ययन क्षेत्र

- बिहार राज्य का रोहतास जिला

अध्ययन की सीमाएँ

- प्राथमिक आँकड़ों का अभाव
- अध्ययन एक जिले तक सीमित

तालिकारू रोहतास जिले में प्रमुख कृषि अवसंरचना

अवसंरचना	स्थिति	प्रभाव	स्रोत
सिंचाई	अपेक्षाकृत अच्छी	उत्पादन वृद्धि	बिहार कृषि रिपोर्ट
ग्रामीण सड़क	मध्यम	विपणन लागत में कमी	जिला सांख्यिकी
भंडारण	अपर्याप्त	मूल्य हानि	NABARD
कोल्ड स्टोरेज	सीमित	सब्जी/फल हानि	कृषि विभाग

परिणाम एवं चर्चा

अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि रोहतास जिले में कृषि अवसंरचना का विकास कृषि उत्पादकता और विपणन दक्षता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

सिंचाई सुविधाओं के कारण जिले में बहुफसली खेती संभव हो पाई है, किंतु यंत्रीकरण और भंडारण सुविधाओं की कमी उत्पादकता लाभ को सीमित कर देती है। ग्रामीण सड़कों के विकास से बाजार तक पहुँच बेहतर हुई है, परंतु परिवहन लागत अब भी एक चुनौती है।

भंडारण और कोल्ड स्टोरेज की कमी के कारण किसानों को फसल कटाई के तुरंत बाद उपज बेचनी पड़ती है, जिससे उन्हें कम मूल्य मिलता है। यदि प्रसंस्करण इकाइयाँ विकसित की जाएँ, तो मूल्य संवर्धन के माध्यम से किसानों की आय बढ़ाई जा सकती है।

अवसंरचना विकास का ग्रामीण आजीविका पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। कृषि आधारित उद्योग और सेवाएँ ग्रामीण रोजगार के नए अवसर सृजित करती हैं, जिससे पलायन में कमी आती है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कृषि अवसंरचना का विकास रोहतास जिले में कृषि उत्पादकता, विपणन दक्षता और ग्रामीण आजीविका को सुदृढ़ करने की कुंजी है। केवल उत्पादन बढ़ाने से ग्रामीण विकास संभव नहीं है, बल्कि अवसंरचना में संतुलित निवेश आवश्यक है।

यदि सिंचाई, भंडारण, परिवहन, कोल्ड चेन और प्रसंस्करण अवसंरचना को विकसित किया जाए, तो रोहतास जिले में सतत और समावेशी ग्रामीण विकास सुनिश्चित किया जा सकता है।

संदर्भ सूची

- Rao, C. H. H. (2015). *Agricultural growth and rural development*. New Delhi: Oxford University Press.
- Singh, R., & Kumar, A. (2018). Infrastructure and agricultural productivity in India. *Indian Journal of Agricultural Economics*, 73(1), 1–15.
- World Bank. (2020). *Rural infrastructure and agricultural development*. Washington, DC.
- Government of Bihar. (2022). *Bihar economic survey*. Patna.
- NABARD. (2021). *Status of rural infrastructure in Bihar*. Mumbai.

स्वतंत्र भारत में आदिवासी महिलाओं की शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक, स्थिति: उत्तर प्रदेश के सन्दर्भ में

विवेक दत्त*
प्रो. सुनील कुमार**

सारांश

प्रस्तुत शोध प्रपत्र अनुसूचित जनजाति की महिलाओं से सम्बन्धित है। भारतीय समाज में जनजाति शब्द का अर्थ पिछड़ा और उपेक्षित समाज से लिया जाता है, क्योंकि यह समाज आदिकाल से जंगल, पहाड़ों और शहर की कोलाहल से दूर निवास करते आ करती हैं भारत 1947 में आजाद हुआ लेकिन इस समुदाय को विकास की मुख्य धारा में शामिल होने के लिए संघर्ष करना पड़ा, आदिवासियों की साक्षरता दर में प्रगति तो हुई लेकिन अन्य समाज की अपेक्षा बहुत मंद गति से हुई जिसके कारण ही यह समाज शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक रूप से पीछे रह गया। प्रस्तुत शोधपत्र पुस्तक, शोध पत्र, सरकारी रिपोर्ट की समीक्षा पर आधारित है। इसके आधार पर कहा जा सकता है की जनजाति समाज के विकास के लिए सरकारों ने समय-समय पर विभिन्न योजनाएं चलाई हैं लेकिन इसके अतिरिक्त प्रयास करने की जरूरत है, जिससे इस समुदाय को भी समाज के मुख्य धारा में शामिल किया जा सके और आदिवासी महिलाओं की शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक, स्थिति में सुधार किया जा सके।

संकेत बिन्दू—अनुसूचित जनजाति, महिलायें, शैक्षिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति।

प्रस्तावना

भारतीय समाज में जनजाति शब्द समान अर्थ वाले कतिपय शब्द भारतीय सामाजिक मानवशास्त्र में अधिक प्रचलित है, कुछ विद्वान जनजातीय समूहों को वनवासी या वन्यजीवियों के नाम से पुकारते हैं इसका कारण यह बताते हैं कि यह समूह प्रायः जंगलों में निवास करता है कुछ विद्वान जनजातियों के लिए आदिवासी शब्द का भी प्रयोग करते हैं। इसके पीछे का तर्क यह देते हैं की ये समूह इस देश के प्रथम निवासी है। जिनका जल, जंगल जमीन पर प्रथम अधिकार है जोकि उनके रहन सहन व जीवन यापन की कला में नजर आती है। क्योंकि आदिवासी समाज का अपना खान-पान, आचार-विचार, रहन-सहन, जीवन शैली दूसरों से बिलकुल भिन्न है। जनजातीय समाज अपनी परम्पराओं के साथ बंधे है, जिससे बदलाव तीव्र गति से नहीं हो पा रहा है। जिसके सम्बन्ध में मयंक बिश्नोई की कुछ पंक्तियां आज भी प्रासंगिक है—

“जल, जंगल, जमीन का मंत्र, जिनका वो समाज आदिवासी है
प्रकृति के प्रति आस्था है जिनकी, वो समाज आदिवासी है।
मौसम बसंत का, अब कलियों पर फूल खिलने की बारी है,
ये समाज भी शिक्षा पाने का बराबर का अधिकारी है।”

इस बात का समर्थन 19 वीं शताब्दी के महान समाज सुधारक महात्मा ज्योतिबा फूले जी भी करते हैं जिसके कारण भी उन्हें आदिवासी कहा जाता है, क्योंकि भारतीय संविधान के हिन्दी रुपान्तर में भी शिङ्गूल्ड ट्राइब्स का अनुवाद ‘आदिम’ जाति शब्द द्वारा किया गया है। 1943 में वेरियर एल्विन की पुस्तक (अब्रिजिनल्स) प्रकाशित हुई उसमें भी आपने जनजातियों को आदिवासी नाम से सम्बोधित किया वे लिखते हैं कि “आदिवासी भारत वर्ष की वास्तविक स्वदेशी उपज है जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति विदेशी है ये वे प्राचीन लोग हैं जिनके नैतिक अधिकार और दावे हजारों वर्ष पुराने हैं क्योंकि यह समाज सदियों से मुख्य समाज से दूर रह रहा है। वे सबसे पहले यहाँ आये उन पर सबसे पहले हमें विचार करना चाहिए”। लेकिन समाज, सरकारों में बैठे जिम्मेदारों ने समय के साथ आदिवासियों पर ध्यान नहीं दिया जिसके फलस्वरूप आदिवासी समाज समय के साथ पिछड़ते जा रहे है।

* शोधछात्र, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ, E-mail-vivekdutt.18@gmail.com. Mob. : 9696220105

** ए.एन.डी. टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, सीतापुर

सर्वविदित है कि आदिवासी समुदाय के जंगल-जमीन, सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक आधार को संरक्षित एवं विकसित करने के लिए भारतीय संविधान में विशेष कानूनी प्रावधान किए गए हैं। स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि गांव के सीमा के भीतर एवं बाहर जो प्राकृतिक संसाधन हैं जैसे, गिट्टी, मिट्टी, बालू, झाड़-जंगल, जमीन, नदी-झरना, सभी गांव की सामुदायिक संपत्ति हैं। इस पर क्षेत्र के ग्रामीणों का सामुदायिक अधिकार है देश की आजादी के बाद भी आदिवासी समुदाय अपने जल, जंगल, जमीन, भाषा-संस्कृति, पहचान पर हो रहे अतिक्रमणों के खिलाफ लगातार संघर्षरत हैं। जंगल, जमीन की रक्षा के लिए आदिवासी-मूलवासी समुदाय ने जाति-धर्म और राजनीति से ऊपर उठकर जनआंदोलनों ने जीत का परचम लहराया है।

स्वतंत्र भारत में आदिवासी-

1947 में जब देश अंग्रेजों के अधिपत्ति से मुक्त हुआ तो देश के सामने पहला प्रश्न यह आया होगा कि देश की दशा के अनुसार निति, नियम क्या होंगे उसी के आधार पर संविधान निर्माताओं ने गहन अध्ययन करके एक लिखित संविधान 1950 में दिया। जिसमें बहुत सारे संवैधानिक प्रावधान किए गए लेकिन भारतीय संविधान अनुसूचित जनजाति ट्राइब शब्द को परिभाषित करने का प्रयास नहीं करता है हालांकि संविधान की उद्देशिका नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय उपलब्ध कराने का संकल्प व्यक्त करती है जिसके अनुसरण में संविधान के भाग 16, अनुच्छेद 330 से 342 तक अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों अन्य पिछड़ा वर्गों तथा अम्ल भारतीय समुदायों के लिए कुछ विशेष प्रावधान किए गए हालांकि अनुच्छेद 342 के माध्यम से संविधान में अनुसूचित जनजाति शब्द को शामिल किया गया यह संविधान की पांचवी अनुसूची के अनुसार अनुसूचित क्षेत्र वाले प्रत्येक राज्य में 'जनजाति सलाहकार परिषद' की स्थापना का प्रावधान करती है अनुसूचित जनजाति के लिए संविधान के भाग 4 के अनुच्छेद 46 में जनजातियों की शिक्षा के लिए विशेष ध्यान देना राज्य का कर्तव्य भी माना है। इसका भी उल्लेख मिलता है कि संविधान के अनुच्छेदों के माध्यम से संघ एवं राज्य के क्षेत्र में रहने वाले अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लोगों को हर तरह का संरक्षण प्रदान किया जाए ताकि वे देश के अन्य सामान्य लोगों की तरह रह सकें और अपना जीवन यापन कर सकें।

आज के भारत में आदिवासियों की जो स्थिति है उसे देखने का लोगों का अपना-अपना नजरिया है वर्तमान भारत में लगभग 705 अनुसूचित जनजातियां अधिसूचित हैं इसके अलावा 75 विशेष रूप से कमजोर जनजातीय समूह हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजातियों की हिस्सेदारी लगभग 8.5 फीसदी है, ग्रामीण क्षेत्रों में जनजाति आबादी का 11.3 फीसदी और शहरी क्षेत्रों में जनजाति आबादी का केवल 2.8 फीसदी हिस्सा ही निवास करती है। अनुसूचित जनजाति समुदाय के सामाजिक ढांचे में हमेशा से महिलाओं का स्थान बेहतर रहा है। जैसे कि लिंगानुपात (प्रति हजार पुरुष पर महिलाओं की संख्या) आबादी का एक प्रमुख पहलू है जो कि महिलाओं को मिली अहमियत को बताता है। 2001 से 2011 की जनगणना के दौरान अनुसूचित जनजाति समुदाय में 1000 पुरुषों पर महिलाओं की संख्या 978 से बढ़कर 990 हो गई जिसमें 2011 में ग्रामीण स्तर पर 991 तथा शहरी स्तर पर 980 प्रति हजार लिंगानुपात है।

अदिवासी समुदाय में जहाँ साक्षरता दर 73 फीसदी के राष्ट्रीय औसत से काफी कम है अनुसूचित जनजाति की महिलाओं में साक्षरता दर 49.35 फीसदी जबकि अनुसूचित जनजाति के पुरुषों के बीच यह आंकड़ा 69 फीसदी है। संविधान महिलाओं को न सिर्फ समानता का अधिकार देता है बल्कि राज्यों को महिलाओं के पक्ष में सकारात्मक प्रावधान करने को भी कहा गया है। भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था, हमारे कानून विकासात्मक नीतियों के तहत हर क्षेत्र में महिलाओं के विकास को प्रमुखता दी गई है संविधान के अनु0 14, 15, 16, 39, व 42 में इसकी चर्चा की गई है। अनु0 14 में महिलाओं को कानून के समक्ष समानता का अधिकार देता है अनु0 15 (1) में कहा गया है कि राज्य किसी भी नागरिक से धर्म, जाति, लिंग व जन्म स्थान के नाम पर भेदभाव नहीं करेगा अनु0 15 (3) में महिलाओं और बच्चों के पक्ष में विशेष प्रावधान करने को कहा है। संविधान में तमाम प्रावधानों के बावजूद जमीनी हकीकत अलग है। उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, अपराध में सुधार की स्थिति आज भी दयनीय प्रतीत होती है।

राष्ट्रीय स्तर पर अनुसूचित जनजातियों में साक्षरता स्तर 2001-2011 तक

तालिका-1

वर्ष	कुल साक्षरता दर	महिला साक्षरता दर	पुरुष साक्षरता दर
2001	47.10	34.76	59.17
2011	58.96	49.35	68.53

स्रोत-जनगणना रिपोर्ट-2011

उत्तर प्रदेश की जनजातियाँ

उत्तर प्रदेश भारत का सबसे अधिक जनसंख्या वाला राज्य है तथा क्षेत्रफल की दृष्टि से यह चौथे स्थान पर है। भारत की जनजातियाँ विभिन्न क्षेत्रों में रहते हुए अपनी संस्कृति के माध्यम से भारतीय परंपरा संस्कृति में अपना योगदान प्रदान करती रही हैं। चूँकि अनेकों जनजातियाँ होने के कारण उनकी संस्कृति भी अलग-अलग है। उनमें से कुछ को भारत सरकार द्वारा अनुसूचित जनजाति के रूप में मान्यता दी गई है। उत्तर प्रदेश की जनजातीय आबादी ज्यादातर उत्तर प्रदेश के पहाड़ी और तराई क्षेत्रों से आती है और पूरे राज्य में सबसे कमजोर समुदायों में से एक है और वह अपनी संस्कृति को प्रमुख रूप से जीवित रखने के लिए उसके प्रति कट्टर समर्थक बने रहते हैं। जिसमें वह किसी बाहरी व्यक्ति का हस्तक्षेप नहीं स्वीकार करते हैं और जब भी कोई बाहरी व्यक्ति (गैर जनजाति) उनकी संस्कृति, परम्परा, आदि में बिना अनुमति के प्रवेश करता है तो उग्र व्यवहार अपना लेते हैं।

भारत की कुल अनुसूचित जनजातियों की संख्या का 1.09 उत्तर प्रदेश में पाई जाती है। उत्तर प्रदेश की जनसंख्या में अनुसूचित जनजाति का प्रतिशत, 2011 की जनगणना के अनुसार 0.06 है। उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति के संविधान आदेश अनुसूचित जनजातियों 1967 के अनुसार पाँच जनजातीय बुक्का, जौनसारी, भोटिया, थारु एवं राजी को अनुसूचित जनजातियों का दर्जा दिया गया था परंतु 2003 में 10 और जनजातियों को इसमें शामिल किया गया।

उत्तर प्रदेश में 107963 अनुसूचित जनजाति रह रही हैं।, जो कि वहाँ की जनसंख्या का केवल 0.1 है। हालांकि यह दिलचस्प है कि 2002 में तत्कालीन सरकार ने घोषणा की थी कुछ नई अनुसूचित जनजाति। अब इसका पुनः विश्लेषण करना एक महत्वपूर्ण कार्य होगा। जनसंख्या परिदृश्य (2011 की जनगणना के अनुसार) उपरोक्त आँकड़ों को ध्यान में रखते हुए वे निःसंदेह उत्तर प्रदेश में अल्पसंख्यक हैं। लेकिन नई घोषणा के कारण जो भी हो, यह एक कड़वी सच्चाई है कि ये लोग गरीबी, कर्ज, भूख, अकाल, गंभीर उद्योगपतियों के हाथों शोषण के शिकार हुए हैं। उनकी दयनीय स्थिति, निरक्षरता और अन्य विकास उपायों के कारण अप्रतिनिधित्व रहा है।

उत्तर प्रदेश की जनजातियाँ

तालिका नं.-2

जनजाति का नाम	जिला
राजी	सोनभद्र
थारु	लखीमपुर, बहराइच, गोरखपुर,
गोंठ (धरिया, नायक, ओझा, महाराजगंज, सिद्धार्थनगर, बस्ती, गोरखपुर, देवरिया, मऊ, आजमगढ़, पठारी, राज गोंठ)	जौनपुर, बलिया, गाजीपुर, वाराणसी, मिर्जापुर, सोनभद्र
खरवार, खैरवार	देवरिया, बलिया, गाजीपुर, सोनभद्र
सहरिया	ललितपुर
परहिया	सोनभद्र
बैगा	सोनभद्र
पेखा/पनिका	सोनभद्र, मिर्जापुर
अगरिया	सोनभद्र
चेरो	सोनभद्र वाराणसी
भुईया, भुनिया	सोनभद्र
बुक्का या भोक्सा,	बिजनौर

स्रोत-(जनगणना रिपोर्ट- 2011)

शोध के उद्देश्य—

- 1— उत्तर प्रदेश में आदिवासी महिलाओं की शैक्षिक स्थिति का अध्ययन करना।
- 2— उत्तर प्रदेश में आदिवासी महिलाओं की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करना।
- 3— उत्तर प्रदेश में आदिवासी महिलाओं की सामाजिक स्थिति का अध्ययन करना।

शोध के प्रश्न

- 1— उत्तर प्रदेश में आदिवासी महिलाओं की शिक्षा का वर्तमान स्तर क्या है ?
- 2— उत्तर प्रदेश में आदिवासी महिलाएं मुक्त: किन-किन आर्थिक गतिविधियों से जुड़ी हुई हैं ?
- 3— क्या आदिवासी महिलाओं की सामाजिक स्थिति शिक्षा, आर्थिक रूप से प्रभावित होती है ?

शोध की सीमाएं एवं शोध प्रक्रिया— शोध सीमा के अंतर्गत शोधकर्ता को पहले से निर्धारित उपस्थित डाटा ही प्राप्त मिले थे, तो उसी के आधार पर शोध पत्र को पूर्ण किया गया है।

शोध विधि— प्रस्तुत शोध पत्र में विश्लेषणात्मक विधि का प्रयोग किया गया।

प्रदत्त संकलन— प्रस्तुत शोध पत्र में द्वितीयक विधि से डाटा संकलन किया गया है जिसके लिए जनगणना रिपोर्ट, पुस्तक समीक्षा, पूर्ववर्ती शोध पत्र, समाचार पत्र, सरकारी दस्तावेज, आदि की समीक्षा की गई है।

उत्तर प्रदेश में आदिवासी महिलाओं की शैक्षिक स्थिति—

आज तकनीकी शिक्षा के दौर में जिस ज्ञान विज्ञान आधारित समाज को हम देखते हैं उसमें शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है शिक्षा जहां व्यक्ति को निरंतरता प्रदान करती है, वही एक ऐसा औपचारिक ढांचा भी तैयार करती है जिसके माध्यम से ज्ञान विज्ञान का प्रचार प्रसार होता है, जिसमें *naik* और *dasaratharamaiah* (2019) में किया गया कार्य या सिद्ध करता है कि शिक्षा आदिवासी महिलाओं के सुधार के लिए सबसे महत्वपूर्ण साधन है आदिवासी महिलाओं के लिए वर्तमान शिक्षा के लिए सरकारों ने समय-समय पर विभिन्न प्रकार की योजनाएं चलाई हैं फिर चाहे वह एकलव्य अवासीय मॉडल विद्यालय योजना, जयप्रकाश नारायण आवासीय आश्रम पद्धति विद्यालय हो, शिक्षा हेतु छात्रवृत्तियां लेकिन फिर भी बढ़ती जनसंख्या और प्रतियोगिता के कारण यह पर्याप्त प्रतीत नहीं हो रही है जिसके लिए पराय (2019) कार्य किया और पाया कि शिक्षा प्राप्त करने में सामाजिक असमानताएं और गरीबी सबसे बड़ी बाधा बनी हुई है उत्तर प्रदेश के संदर्भ में अवास्थी और श्रीवास्तव (2019), बताते हैं कि ग्रामीण समुदाय में आदिवासी और अन्य वंचित समुदायों की शिक्षा के अवसर स्पष्ट रूप से असमान हैं आदिवासियों की शैक्षिक स्थिति दयनीय होने के निम्न कारण है।

- आदिवासी क्षेत्र में जो भी विद्यालय स्थापित किए गए हैं जैसे प्राथमिक विद्यालय, माध्यमिक विद्यालय और उन विद्यालयों में मानक के अनुरूप महिला शिक्षकों का अभाव है।
- आदिवासी समाज की महिलाएं किसी तरह से अगर माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर भी लेते हैं लेकिन उच्च शिक्षा के लिए बड़े शहरों को जाना पड़ता जहां रहन-सहन के खर्च वहन करने में वह असमर्थ हैं।
- आदिवासी महिलाओं के लिए उच्च शिक्षा स्तर पर छात्रावासों की सुविधा न होने के कारण ज्यादातर बालिका उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर पा रही हैं
- आदिवासी समाज की महिलाओं में संवैधानिक जागरूकता की कमी है

उत्तर प्रदेश में आदिवासी महिलाओं की आर्थिक स्थिति

भारतीय जनजाति या आदिवासी समाज सदियों से ग्रामीण और सुदूर जंगल में निवास करती आ रही हैं जो अपनी अर्थव्यवस्था या अपने जीवन यापन को बनाए रखने के लिए कई तरह के उपाय अपनाती हैं। आदिवासी महिलाएं अपनी आर्थिक स्थिति को मजबूत करने के लिए प्रमुख रूप से चार क्षेत्रों पर निर्भर रहती हैं जैसे कृषि, पशुपालन, हस्तशील निर्माण और औद्योगिक श्रम, नगरीकरण और औद्योगीकरण के बढ़ते क्षेत्र के फल स्वरूप आदिवासियों के लिए कृषि और पशुपालन के लिए क्षेत्र सीमित होते जा रहे हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार 2016 तक भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले 70 प्रतिशत से अधिक परिवार किसी न किसी रूप की कृषि कार्य में लगे हुए हैं, देश को अधिकांश खाद आपूर्ति प्रदान करने के अलावा कृषि रोजगार बाजार के लिए भी महत्वपूर्ण है। आदिवासी समाज की कृषि पर अत्यधिक निर्भरता उनको कभी-कभी चिंता में डाल देती है, क्योंकि दैवीय आपदा आने पर जैसे बाढ़, सूखा आदि आने पर उनको सरकार से समुचित मुआवजा नहीं मिल पाता है। उनके सामने भुखमरी जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, इस संदर्भ में शोधकर्ता चौधरी और मेरे (2021) में शिक्षा और रोजगार के अवसरों में आदिवासी महिलाएं धीरे-धीरे सामाजिक निर्णय में भागीदारी

करने लगी है। लेकिन उनकी भागीदारी काफी कम मात्रा में है, उसी प्रकार उड़ीसा राज्य में नायक ने (2023) में एक अध्ययन किया और अध्ययन सिद्ध करता है कि उधमशीलता और प्रशिक्षण से न केवल उनकी आर्थिक स्थिति बेहतर हो सकती है बल्कि आत्मनिर्भर और सामाजिक सम्मान भी बढ़ा है। लेकिन इन सब प्रयासों के बाद भी आदिवासियों की आर्थिक स्थिति में सकारात्मक प्रयास नहीं हो पा रहा है, आदिवासियों की आर्थिक स्थिति खराब होने के निम्न कारण है। जैसे—

- आदिवासी क्षेत्र की महिलाओं के लिए रोजगार के साधन उपलब्ध न होना।
- आदिवासी समुदाय की महिलाओं में राजनीतिक जागरूकता की कमी होना।
- आदिवासी समुदाय के क्षेत्र की महिलाएं का मुख्य शहर से दूर निवास करना।
- आदिवासी समाज की महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता की कमी का होना।
- आदिवासी समाज की महिलाएं पूर्णता प्रकृति या कृषि पर निर्भर होना।
- आदिवासी क्षेत्र में बाहरी व्यक्तियों की बढ़ती संख्या जिससे उनके व्यापार पर कब्जा कर लिया है और वे अपने क्षेत्र के मुखिया होकर भी मजदूर बनकर रह गए हैं।

आदिवासियों की सामाजिक स्थिति

भारत आजाद होने के बाद से आदिवासी समाज की महिलाओं की स्थिति आजादी के 75 साल पूर्ण हो जाने के बाद भी दयनीय बनी हुई है, क्योंकि यह समाज सदैव से उपेक्षाओं का शिकार रहा है वह समाज में बराबरी के हक के लिए आज भी संघर्ष करता दिखाई पड़ रहा है, उन्हें समाज में बहुत से मामलों में बराबरी का हक नहीं दिया जाता है जैसे की संपत्ति का अधिकार, पारिवारिक निर्णय का अधिकार, आर्थिक निर्णय का अधिकार इत्यादि जैसे तो पूरे विश्व में महिलाओं को अगर बराबरी का हक समाज ने दिया है तो वह आदिवासी, वनवासी समाज ही है यह इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि जहां मुख्य धारा के समाज में महिलाओं की संख्या में कमी आई है तो वहीं आदिवासी समाज में महिलाओं की स्थिति सदैव अच्छी रही है लेकिन फिर भी उन्हें समाज से वह अधिकार, हक नहीं मिला जो उन्हें मिलना चाहिए था आज भी भ्रूण-हत्या, महिलाओं का शोषण एवं प्रताणना जारी है जब तक इन सभी की समाप्ति नहीं होती तब तक आदिवासी महिलाओं की आजादी पूर्ण रूप से नहीं कहीं जा सकती। उत्तर प्रदेश में परदादा परदादी एजुकेशनल सोसाइटी जैसे संगठनों ने ग्रामीण और आदिवासी लड़कियों की शिक्षा व कौशल प्रशिक्षण देकर उन्हें सामाजिक और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने में मदद की है। यह उदाहरण दर्शाता है कि स्थानीय स्तर पर आदिवासी महिलाओं के लिए जमीनी स्तर पर काम किया जाए तो उनकी स्थिति में ठोस सुधार ला सकती है।

सामाजिक स्थिति दयनीय होने के मुख्य कारण—

- आदिवासी महिलाओं को मुख्य समाज बराबरी का दर्जा नहीं देता।
- आदिवासी समुदाय की महिलाओं में ज्यादातर शिक्षा की स्थिति अत्यंत दयनीय है।
- आदिवासी समाज की जो भौगोलिक परिस्थिति है वह शहरों से दूर जंगलों में होने के कारण महिलाएं समाज के मुख्य समुदाय से अलग रहती हैं।
- आदिवासी समुदाय की महिलाएं स्वास्थ्य की समस्या से आज भी गुजर रही है क्योंकि कुछ क्षेत्रों में सरकारी अस्पताल नहीं है और जो हैं भी उसमें समुचित चिकित्सा सुविधा न मिल पाने के कारण अक्सर जन हानि का शिकार हो जाती हैं।
- आदिवासी महिलाओं के प्रति शहरी समाज दोगले दर्जे का व्यवहार करता है क्योंकि वह यह मानकर चलते हैं कि आदिवासी महिलाओं का रहना-खाना उनके स्तर का नहीं है।

निष्कर्ष— भारत पूर्व काल से ही वैभव, ज्ञान, संपदा सम्पन्न रहा है जिसमें पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं की स्थिति भी संतोषजनक थी लेकिन महिलाओं की स्थिति में धीरे-धीरे प्रगति रुकती चली गई और वह पुरुष समाज की स्थिति से बिछड़ गई और उसमें भी आदिवासी महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय हो गई क्योंकि यह समाज अन्य समाज से दूर जंगलों में निवास करता था जिसके कारण वे सुविधाओं का सही से उपयोग नहीं कर पा रही और वह अन्य समाज के महिलाओं की तुलना में ज्यादा पीछे गई और उनकी दैनिक स्थिति इसलिए भी कमजोर रही क्योंकि समय-समय पर यहां विभिन्न आक्रांताओं का शासन रहा जो धन संचय के उद्देश्य से आए ना कि भारत की स्थिति में प्रगति करने के लिए।

आजादी के लगभग 78 साल बाद भी आदिवासी समुदायों की शैक्षिक स्थिति अभी भी चिंता का विषय बनी हुई है उसमें भी खासकर महिलाओं की यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा की स्थिति में सुधार हुआ है,

फिर भी यह सुधार काफी मंद गति से हुआ है आदिवासी शिक्षा की स्थिति में सुधार के लिए सरकारों की प्रमुख दया दृष्टि की आवश्यकता है सरकारी और गैर सरकारी संगठनों के साथ-साथ समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आदिवासियों की सामाजिक, आर्थिक वा शैक्षिक स्थिति को बढ़ावा देने के लिए योगदान देना चाहिए। क्योंकि शिक्षा ही वह माध्यम है जिससे आदिवासी समुदाय की सामाजिक, आर्थिक स्थिति में महत्वपूर्ण प्रगति कर सकते हैं। आज भी हमें भारत के आदिवासियों को समाज/राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ने के निरन्तर प्रयास करते रहना होगा और देश के समग्र विकास में आदिवासियों का विकास भी महत्वपूर्ण है।

संदर्भग्रंथ

- Awasthi, I. C., & Shrivastav, N. K. (2017). Social and educational status of tribal communities in rural Uttar Pradesh. *Journal of Rural Development*, 36(2), 157–172.
- Chowdhury, D., Roul, R., & Mete, J. (2021). Women empowerment through education: A case study of tribal women in India. *International Journal of Multidisciplinary Educational Research*, 10(4), 12–20.
- Naik, B. P., & Dasaratharamaiah, C. H. (2019). Education and empowerment of tribal women in India. *International Journal of Research and Analytical Reviews*, 6(2), 345–350.
- Paray, F. A. (2019). Socio-economic and educational status of tribal women in India. *International Journal of Innovative Research and Advanced Studies*, 6(7), 88–92.
- Singh, R., & Kumari, P. (2020). Digital India and its impact on tribal women empowerment. *International Education and Research Journal*, 6(9), 23–26.
- Xaxa, V., & Nayak, B. (2023). Entrepreneurship and empowerment of tribal women in Odisha. *Frontiers in Sociology*, 8, 112–125.
- Office of the Registrar General & Census Commissioner, India. (2011). Census of India 2011: *Primary census abstract for scheduled tribes*. New Delhi: Ministry of Home Affairs, Government of India. Retrieved from <https://censusindia.gov.in>

पत्र पत्रिकाएं—

1. राज्य पोर्टल ,उ० प्र० सरकार, (2021), सतत विकास लक्ष्य : विजन 2030 <https://www.planning.up.nic.in>
2. जनजातीय कार्य मंत्रालय, (14 नवम्बर 2021) आदिवासियों की प्रति व्यक्ति आय, प्रेस सूचना ब्यूरो, भारत सरकार, <https://www.pib.gov.in/newsite/print release.aspx>
3. जनजातीय विकास विभाग, (10 नवम्बर 2021), विभागीय योजनाएं, उत्तर प्रदेश सरकार <https://www.uptdd.gov.in>
4. खण्डेकर, दीपक, (2018), अनुसूचित जनजाति की महिलाओं का सशक्तीकरण, योजना, भारत सरकार पृ० सं० 33–34।